

पुस्तक-वार्ता

अंक 54 ■ नई दिल्ली, नवंबर-दिसंबर 2014

संरक्षक संपादक
गिरीश्वर मिश्र (कुलपति)

संपादक
विमल झा

प्रकाशक

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय,
पो. हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स, वर्धा-442005 (महाराष्ट्र)
Website: www.hindivishwa.org

संबंधित लेखकों द्वारा पत्रिका में प्रकाशित विचारों से
विश्वविद्यालय और संपादक की सहमति अनिवार्य नहीं है।
विवाद की स्थिति में न्यायक्षेत्र वर्धा (महाराष्ट्र)

एक अंक: ₹20

वार्षिक सदस्यता : ₹120

चेक कमीशन जोड़कर वार्षिक ₹145 और द्वैवार्षिक ₹265
म.गां.अं.हिं.वि, वर्धा को भेजें। मनीआर्डर स्वीकार्य नहीं।

पत्रिका का वितरण अब दिल्ली से होता है। पत्रिका न मिलने की
शिकायत इस पते पर करें : रुचिका प्रिंटेर्स, 10295, लेन नं. 01,
वैस्ट गोरखपार्क, शाहदरा, दिल्ली-110032 (मो. 09212796256)

मुखपृष्ठ : जे. पी. त्रिपाठी

संपादकीय संपर्क : 132 ए, ऊना इनक्लेव,
मयूर विहार-1, दिल्ली-110091 (मो. 09910186568)
E-mail: pustakvimal@gmail.com

प्रकाशन प्रभारी: राजेश यादव, प्रबंध, बिक्री और वितरण केंद्र:
प्रकाशन विभाग: महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय,
पो. हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स, वर्धा-442005 (महाराष्ट्र)
फोन:07125-232943

PUSTAK-VARTA

A Bi-monthly journal of book Reviews in Hindi published by
Mahatma Gandhi Antarrashtriya Hindi Vishwavidyalaya, Post-
Gandhi Hills, Wardha-442005 (Maharashtra)

छपाई: रुचिका प्रिंटेर्स, दिल्ली-110032
email:ruchikaprinters2005@gmail.com

इस बार

मुक्तिबोध की प्रसिद्धतम कविता
'अंधेरगैर नहीं होता।

स्वप्न और संघर्ष के कवि :
विश्वनाथ त्रिपाठी 4

मुक्ति अकेले ...	:	जितेंद्र श्रीवास्तव	14
मौत का साक्षात्कार	:	पुष्पेश पंत	26
लंबी शाम के	:	अरविंद मोहन	28
इतिहास के रं	:	रहीस सिंह	31
पहली दुनिया	:	शंभु गुप्त	34
कथा-रस में	:	वीरेन्द्र सारंग	38
भाषा की जमीन	... :	अजितकुमार	41
औपनिवेशिक	...:	कृष्ण कुमार सिंह	44
सिनेमा संगीत	:	किकक	47
अपने समय ... :		ककक	50

'अंधेरे होना मामूली बात न

'अंधेरे में' और ... गोपेश्वर सिंह 10

श्री अमृत राय द्वारा श्री मुक्तिबोध को लिखा यह पत्र स्वामी सहजानंद सरस्वती संग्रहालय, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय में संरक्षित है।

संपादकीय

हिंदी जगत में यह चर्चा आम है कि पुस्तकों के प्रति लोगों की रुझान बेहद कम है। लोग किताबें पढ़ने के बजाय बहस-गप्पबाजी में ज्यादा रुचि दिखाते हैं। उनका कुछ समय टीवी-सिनेमा आदि की भेंट चढ़ जाता है और बाकी समय जीवन की आपाधापी से निपटने में।

यह पुस्तक वार्ता का जुलाई-अगस्त 2014 का अंक है। कथा सम्राट प्रेमचंद की जयंती 31 जुलाई को पड़ती है। यह उनके पुण्य स्मरण का वक्त है, इसलिए इस अंक की शुरुआत हम उनकी स्मृति से कर रहे हैं। आपकी प्रतिक्रियाओं का इंतजार है...

विमल झा

साहित्यकार के स्वाभिमान के प्रतीक थे धूमिल

■ काशी नाथ सिंह
वरिष्ठ साहित्यकार

संपर्क: वाराणसी

निःसंदेह मुक्तिबोध
वामपंथी समावेश
उनकी कविता और
उनके विचारों की
बहुत महत्वपूर्ण
विशेषता है।

धूमिल के बारे में आपने लिखा है कि 'गद्यकार होने के कारण मैं उसके रास्ते में नहीं था। अगर मैं कविताएं लिखता तो शायद यह दोस्ती न चलती।' क्या सच में धूमिल में ऐसी ग्रंथि थी कि वे अपने आगे किसी कवि को देखना ही नहीं चाहते थे? राजकमल चौधरी पर तो धूमिल की कविता अद्भुत है।

इसे ग्रंथि मत कहो। ग्रंथि तो बाद में आयी। संयोग यह है कि धूमिल की जो पहली रचना छपी, वह कहानी थी। वह 'कल्पना' पत्रिका में आयी थी। तब तक धूमिल को हम जानते नहीं थे। वह ऐसी कहानी नहीं थी कि लोगों का ध्यान आकृष्ट करती। नई कहानी के जाने-माने कहानीकार थे शिवप्रसाद सिंह। हो सकता है कि शिवप्रसाद जी के संपर्क में आने से धूमिल के मन में कहानी लिखने का विचार आया हो। बाद में उन्होंने शिवप्रसाद सिंह का साथ लगभग छोड़ सा दिया। इसके बाद धूमिल का संपर्क रामचंद्र शुक्ल नाम के एक चित्रकार से हुआ, जो बनारस के ही बी.एड. कालेज में पेंटिंग पढ़ाते थे। रामचंद्र शुक्ल कविताएं भी लिखते थे। उनके अलावा बनारस में गोविंद मित्र, मोहनराज शर्मा और नागानंद मुक्तकंठ नाम के कुछ कवियों से धूमिल का संपर्क रहा। इनसे भी वे धीरे-धीरे अलग हो गए।

राजकमल चौधरी अकवितावादियों से प्रभावित थे। राजकमल जब कलकत्ता में थे तो उनका एक संग्रह प्रकाशित हुआ था- 'कंकावती' शीर्षक से। इस संग्रह की कविताएं अकवितावादियों से भिन्न थी। यह संग्रह धूमिल ने पढ़ा था। इस संग्रह की उस समय खूब चर्चा भी हो रही थी। राजकमल चौधरी बनारस आते रहते थे। उन दिनों बनारस में जनसंपर्क अधिकारी थे शंभुनाथ मिश्र, जो पटना के रहने वाले थे। राजकमल

चौधरी जब बनारस आते थे तो शंभुनाथ मिश्र के यहां ठहरते थे। धूमिल का कोई परिचय राजकमल चौधरी से नहीं था। राजकमल चौधरी एक बार आये थे तो किसी के घर पर उनके कविता-पाठ का आयोजन किया गया था। उसमें धूमिल, मैं और नामवर सिंह भी शामिल हुए थे। धूमिल राजकमल को एक बड़ा कवि मानते थे। धूमिल में एक विद्यार्थी की तरह कविता सीखने-समझने की बेचैनी थी। धूमिल पढ़े-लिखे कम थे। इंटर भी नहीं कर सके थे। लेकिन शब्दकोश लेकर अंग्रेजी पढ़ना और अपने पड़ोसी नागानंद से वे अंग्रेजी सीखते थे। तो धूमिल ने अंग्रेजी कविताओं को पढ़ने के लिए ही अंग्रेजी पढ़ना और सीखना शुरू किया। इसके बाद धूमिल में यह क्षमता पैदा हुई कि वे खुद से अंग्रेजी पढ़ और थोड़ा-बहुत बोल भी सके।
सुदामा पांडे ने अपना नाम 'धूमिल' क्यों रखा?

यों ही मैंने एक बार धूमिल से पूछा था कि 'धूमिल' नाम तुमने क्यों रखा? तो मुझे पता चला कि बनारस में सुदामा तिवारी नाम के एक कवि थे, आज भी हैं। वे अपना नाम सुदामा तिवारी की जगह सांड बनारसी लिखते हैं। हास्य रस के कवि हैं। देखने में गुंडा लगते थे। धूमिल को लगता था कि सुदामा तिवारी और सुदामा पांडे में लोगों के बीच भ्रम पैदा हो रहा है। तो एक तो धूमिल को अपना नाम इस वजह से बदलना पड़ा। अब 'धूमिल' क्यों रखा- इसका पता बाद में चला कि धूमिल के बाबा- यानी पिताजी के पिताजी, जयशंकर प्रसाद के यहां नौकरी करते थे। जयशंकर प्रसाद ने अपने बेटे का नाम रत्नशंकर रखा था और धूमिल ने भी इसी प्रभाव में अपने बेटे का नाम रत्नशंकर रखा। मेरा ख्याल है कि कविता लिखने का संस्कार धूमिल को जयशंकर प्रसाद के घराने से पुश्तैनी संबंध के कारण मिला।

सैयद ज की एक कलाकृति

जयशंकर प्रसाद छायावादी कवि थे और हम देख सकते हैं कि 'धूमिल' नाम में भी छायावादी तत्व है।

कुछ साहित्यकारों का यह कहना है कि नामवर जी ने धूमिल का इस्तेमाल किया, बनारस में धूमिल नामवर के लठैत थे?

नामवर के विरोधी ऐसा कहते हैं। न तो इस्तेमाल करने की प्रवृत्ति नामवर सिंह में पहले कभी थी और न आज है। इस मामले में वे हमेशा सचेत रहे हैं। धूमिल तो बहुत एलर्ट रहता था, इस चीज को लेकर कि जिस आदमी से वह मिल रहा है वह उसका इस्तेमाल तो नहीं कर रहा। धूमिल के अंदर स्वाभिमान था। उन्हें उनके आक्रामक रूख के कारण लठैत कहा जाता है। लेकिन यह बात सच है कि नामवर के विरुद्ध धूमिल कुछ सुन नहीं सकते थे। और उस समय बनारस का पूरा वातावरण नामवर-विरोधी था। धूमिल ने भारत-चीन युद्ध पर लिखी हुई नामवर सिंह की कविता पढ़ी थी। इसके अलावा ज्ञानोदय में नामवर सिंह का जो स्तंभ छपता था- 'नयी कविता पर क्षण भर' उसे भी धूमिल पढ़ते थे। इस स्तंभ में एक बार नामवर सिंह ने धूमिल की चर्चा की थी। इसके बाद धूमिल को लगा कि नामवर सिंह से बहुत

कुछ सीखा जा सकता है। धूमिल में सीखने की प्रवृत्ति बहुत प्रबल थी। जिस किताब का बातचीत में नामवर सिंह जिक्र करते उस किताब को उपलब्ध करके धूमिल पढ़ जाते थे। 'संसद से सड़क तक' में जो पंक्ति है- 'एक सही कविता पहले एक सार्थक वक्तव्य होती है'- यह नामवर का वाक्य है। नई कविता पर क्षण भर में लिखा था नामवर ने। यदि धूमिल को लगता कि नामवर उनका इस्तेमाल कर रहे हैं तो वे उन्हें छोड़ देते। दरअसल धूमिल बनारस में साहित्यकार के स्वाभिमान के प्रतीक थे। किसी कवि या लेखक में जब वे ओछापन देखते थे तो वे उसके खिलाफ हो जाते थे। उनका कहना था कि लेखक या कवि जब लोगों के बीच आए तो सामान्य हरकत न करे। जैसे यदि कहीं अन्याय हो रहा है, किसी को परेशान किया जा रहा है तो तुरंत इसका विरोध करना चाहिए।

आपने अपने लेख में लिखा है 'मैंने कहा- हिंदी कविता में कोई मजबूत चरित्र नहीं है और उसने लिखा- मोचीराम ! मोचीराम वास्तव में कोई व्यक्ति थे, जिन पर धूमिल ने यह कविता लिखी।

अस्सी पर एक मोची बैठा था। उसका नाम

मुक्तिबोध की
प्रसिद्धतम कविता
'अंधेरे में' का नायक
मूलतः स्वप्न और
संघर्ष का प्रतीक
इतिहासस संघर्ष की
रचनात्मक एवं
सौंदर्यबोधीय
अभिव्यक्ति होती है।

अभी याद नहीं आ रहा। उसके यहाँ हम लोग अपना चप्पल-जूता मरम्मत करवाते थे। उससे धूमिल बातचीत करते थे, पैसा भी कुछ ज्यादा दे देते थे। लेकिन 'मोचीराम' कोई एक मोची नहीं है। यह मोची उनके ध्यान में रहा होगा। चौक पर भी एक मोची बैठा था। उसमें चीजों के प्रति आपोश का भाव था और वह उसे प्रकट भी करता था। इस मोची से भी धूमिल बातचीत करते रहते थे। मेरा ख्याल है कि मोचीराम का मोची यही है। वैसे देखा जाय तो कविता में मोचीराम को एक कल्पित चरित्र कहना ही उचित होगा।

वेंकटेश कुमार- आपको यह कविता अच्छी लगती है ?

काशीनाथ सिंह- हाँ, यह कविता मुझे बहुत पसंद है। धूमिल भी इस कविता को लेकर बहुत खुश रहते थे। इस कविता के माध्यम से 'महंगू महंगा रहा है' जैसा चरित्र आया। मैंने शायद लिखा है कहीं कि धूमिल की स्थिति यह थी कि उन्हें मॉडल आप दे दीजिए, किसी भ्रष्ट कविता का मॉडल। धूमिल उस मॉडल से बेहतर करने की कोशिश बराबर करते थे। धूमिल के सामने निराला की वे कविताएं थी जो 'नये पत्ते' में है। जब हम लोग बातचीत कर रहे थे धूमिल ने माना कि निराला ने जो चरित्र दिया वैसे अब हिंदी कविता में दिखायी नहीं देता। उनको लगा कि यह काम करना चाहिए और उन्होंने 'मोचीराम' लिखा।

वेंकटेश कुमार- आपने लिखा है कि 'धूमिल' के आने तक आलोचना का मुँह कहानी की ओर था। वह आया और उसने आलोचना का मुँह कविता की ओर कर दिया। अपनी ओर कर लिया। लेकिन इसी लेख में आपने यह भी लिखा है कि नामवर सिंह की 'कविता के नये प्रतिमान' नाम की पुस्तक आयी, वह (धूमिल) नामवर सिंह से शिकायत के साथ मिला और कहा कि आपने फिर उन्हीं लोगों को लिया है, जिन पर पिछले पंद्रह सालों से लिखते रहे हैं। हम उम्मीद कर रहे थे कि अबकी बार हम होंगे। 'आलोचना'

के धूमिल केन्द्रित अंक में भी किसी बड़े आलोचक ने नहीं लिखा। क्या यह आकस्मिक था ? फिर हम यह कैसे मान लें कि धूमिल ने आलोचना का मुँह अपनी ओर कर लिया ?

काशीनाथ सिंह- इसमें तो किसी को कोई संदेह नहीं होना चाहिए कि 1950 के बाद सारी बातें कहानी पर हो रही थी। आलोचना के क्षेत्र में कहानी आ गयी थी। इसका श्रेय कहानियों को तो है ही, कहानी के आलोचक नामवर सिंह, देवीशंकर अवस्थी, धनंजय वर्मा आदि को भी है। कविता पर लिखना छोड़ दिया था नामवर सिंह ने। सन् 1960 के बाद शुरू किया था 'नयी कविता पर क्षण भर'। क्योंकि कविता के कई रूप आ गये थे। उस समय- अकविता, नयी कविता, सहज कविता, सूर्योदयी कविता, भूखी पीढ़ी की कविता आदि। इसके पहले कविता में प्रवृत्तियाँ दिखायी पड़ती हैं- छायावाद, प्रगतिवाद आदि। लेकिन सन् 1960 के बाद ऐसा नहीं रहा। 4-5 कवि मिल गये वहाँ एक आंदोलन खड़ा कर दिया अपने नाम पर। लेकिन जो ईमानदार कवि थे वे इससे बाहर निकलना चाहते थे। वे इन प्रवृत्तियों से मुक्त होना चाहते थे। धूमिल में अपने को अलग दिखाने की बेचैनी भी छटपटाहट थी। धूमिल का हस्ताक्षर सबसे अलग हो, धूमिल के भीतर यह तड़प थी। जलूस या मजमे में शामिल होने से धूमिल ने मना कर दिया। उन दिनों धूमिल मुक्तिबोध की 'अंधेरे में' में राजकमल चौधरी की 'मुक्ति प्रसंग' जैसी कविताएं पढ़ रहे थे। सौमित्र मोहन, मलयराम चौधरी और समीर राम चौधरी की कविताएं भी वे पढ़ रहे थे। ये कविताएं वे अपने लिए रास्ता निकालने के लिए पढ़ रहे थे। चूंकि धूमिल सीधे-सीधे गाँव से जुड़े हुए थे। घर के मालिक वही थे औ खेती-बाड़ी करवाते थे। धूमिल की नौकरी छोटी थी। घर का खर्च चलाने के लिए यह सब करना पड़ता था उन्हें। कहानी में तो गाँव था लेकिन कविता में गाँव नहीं था। गाँव में संबंधित प्रगतिशील कवि

थे- नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, सलोचन। लेकिन ये लोग किसानों-मजदूरों के बारे में लिख रहे थे। लेकिन धूमिल का कहना था कि सीधे-सीधे गाँव से इन लोगों का परिचय नहीं है, या है भी तो में गाँव के बारे में नहीं लिख रहे हैं। मार्क्सवादियों की किसानों-मजदूरों के बारे में जो बनी बनायी धारणा है, वही धारणा में लोग अपनी कविताओं के माध्यम से व्यक्त कर रहे हैं। स्वभाविक रूप से धूमिल को लगा कि शहर छोड़कर सीधे गाँव की कविता लिखा जाए तो कविता में वह नमी चीज होगी, जिधर किसी कवि का ध्यान नहीं जा रहा। इस प्रकार धूमिल ने गाँव पर कविताएं लिखनी शुरू की। उनकी आरम्भिक कविताएं 'जनमग', 'आरम्भ' और सम्भावना जैसी पत्रिकाओं में छपी और फिर 'आलोचना' आती रही। इस तरह से कवियों, आलोचकों और पाठकों का ध्यान इनकी कविताओं की ओर गया कि एक नये तरह का कवि आया है, जो उस जिन्दगी के बारे में सीख रहा है जिससे कविता अछूती भी थी। इस प्रकार 67-68 तक देखते-देखते धूमिल अपने समय के शीर्षस्थ कवि हो गये। अब आलोचकों की जहाँ तक बात है तो नायक जी धूमिल को छाप रहे थे, चर्चा में कर रहे थे। लेकिन, 'कविता के नये प्रतिमान' में नायक के सामने सवाल दूसरे थे। धूमिल ने यह नहीं समझा कि प्रतिमान की बात हो रही है और यह किताब छायावादों कवियों पर केन्द्रित है। जो कविताएं लिखी जा रहीं थी वह नायक की इस किताब का विषय थी ही नहीं। इसलिये नायक ने इन लोगों का जिफ करके छोड़ दिया। लेकिन धूमिल की महत्वकाँक्षाएं बहुत बड़ गयीं थीं। इसलिये वे इसे नहीं समझ सकें। 'नई कविता पर क्षण भर' शीर्षक अपने स्तम्भ की सम्भवतः अन्तिम किस्त में नायक ने धूमिल का जिफ किया था। इससे धूमिल को लगा कि अगली बार नायक जी मुझ पर ही लिखेंगे। जहाँ तक बाद के आलोचकों का सवाल है तो उनके अपने-अपने कवि थे, अपने-अपने पसन्द के लोग थे।

वेंकटेश कुमार- धूमिल की कविताओं पर आलोचकों द्वारा कलम न चलाये जाने की क्या वजह हो सकती है ?

काशीनाथ सिंह- बहुत से लोग यह जानते थे कि कविता संवेदना की चीज है विचार की नहीं। धूमिल की कविताओं में संवेदना नहीं विचार थे। तो इससे आलोचक अपना मेल नहीं बैठा पा रहे थे। एक तो ये बात हो सकती है, और दूसरे में कि कविता की भाषा में जिस तरह की सरलता या सजलता या लालित्य जैसी चीज होती है उसका धूमिल की कविताओं में अभाव था। धूमिल की कविताओं में धूल-धक्कड़ जैसी चीज जाती थी।

वेंकटेश कुमार- जिसे लट्टुमार भाषा कहते हैं। सवारवमानी.....

काशीनाथ सिंह- हाँ, जिसे सवारवमानी कहा जाता है। साफ-साफ दो-टूक कहता। हो सकता है कि कविता को लेकर आलोचक की जो समझ थी उससे यह मेल न खाता हो।

वेंकटेश कुमार- मार्क्सवाद से धूमिल का कैसा रिश्ता था, मार्क्सवाद धूमिल की कविताओं को किस तरह से प्रभावित किया, मार्क्सवाद के बारे में धूमिल क्या सोचते थे, इस पर शायद न ही धूमिल ने लिखा है न धूमिल के आलोचकों ने। लेकिन धूमिल फान्ति के बारे में क्या सोचते थे, इसका पता उनकी एक कविता देती है- 'फान्ति' यहाँ के असंग लोगों के लिए/किसी अबोध बच्चे के/हाथों की पूंजी है'।

काशीनाथ सिंह- धूमिल ने स्टूडी-सर्किल या मार्क्सवाद के ग्रंथों से मार्क्सवाद सीखा नहीं था। उन्होंने मार्क्सवाद के ग्रंथों का विधिवत अध्ययन भी नहीं किया था। मार्क्सवाद के बारे में जो कुछ उनकी जानकारी थी, वह संगत से थी। जैसे चंद्रबली सिंह थे, त्रिलोचन थे। मेरा ख्याल है कि नायक जब तक बनारस रहे तब तक धूमिल का संग-साथ नायक के साथ बना रहा। सी.पी.एम या सी.पी.आई के जो होलटाइपर थे, उनसे भी चाय की दुकानों में या कहीं भी

**‘अंधरे में’ का अंधरा
प्रकृति की विवेकहीनता
का प्रतीक है। यह
विवेकहीनता दो स्तरों पर
है- सामपुरुष’ है।**

भेंट होती रहती थी उनकी। धूमिल किसानों के जीवन संघर्ष या लोकतंत्र के योद्धा कवि के रूप में धूमिल जाने जाते थे। इस वजह से भी मार्क्सवाद की तरह धूमिल का आकर्षित होना स्वाभाविक था। हमें इतना याद है कि पार्टी तो मैंने भी कभी जॉइन नहीं की, लेकिन चुनाव जब भी होता था, सी.पी.आई सेचुनाव लड़ते थे। उनके लिए धूमिल और मैं साथ-साथ प्रचार करते थे, साइकिल से। सीताराम सिंह सी.पी.एम. के एम.पी. हुए थे, उनका भी चुनाव-प्रचार हम लोगों ने किया था। तो एक जो सहज किसानों की जिंदगी, गाँव के संघर्ष से परिचित रहने

वाला और उस जमीन की कविता लिखने वाले आदमी को मार्क्सवादी होने के लिए मार्क्सवादी सिद्धान्तों को ठीक से समझना बहुत आवश्यक नहीं है। बराबरी में जो भी विश्वास करता है, जाति-विरोध में जो भी विश्वास करता है वह मार्क्सवाद से तो जुड़ ही गया। अपने सामन्ती-संस्कारों से लड़ने वाला कोई भी व्यक्ति का रूझान मार्क्सवाद की ओर होगा ही। एक बात और- उन्हीं दिनों नक्सलवादी आन्दोलन हुआ था। तो नक्सलवादियों से भी धूमिल के सम्बन्ध थे। बनारस में रहने वाले नक्सलाइट-ग्रुप के वे सम्पर्क में थे। लेकिन असहमतियों के भी ढेर सारे मुद्दे थे। लेकिन जो मार्क्सवादी हो और यह देख रहा हो कि काम मार्क्सवाद के उलट हो रहा है, तो विक्षोभ स्वाभाविक है। इस तरह के विक्षोभ धूमिल की कविताओं में देखे जा सकते हैं। इसलिए इनकी कविताओं को पढ़ते हुए ऐसा भी लगता है कि वे एनारकिस्ट थे, सारी चीजों को तोड़ देना चाहते थे, उथल-पुथल मचा देना चाहते थे। कहीं-कहीं अंध किस्म का दिशाहीन गुस्सा जैसा भी दिखाई पड़ता है उनके यहाँ। लेकिन इसे धूमिल की पूरी विचार धारा पर लागू करना ठीक नहीं रहेगा। क्योंकि ऐसे भाव उनकी कविताओं में कहीं-कहीं आते हैं। फान्ति करने वाले खाते-पीते लोग थे। ऐसे लोग जब फान्ति की बात करते थे तो हँसी आती थी। धूमिल को लगता था कि ऐसे खाते-पीते लोग हमारी तकलीफ क्या जानें। यह 'असंग लोग' जैसे ही फान्तिकारियों के लिए धूमिल ने इस्तेमाल किया है। मुश्किलों और संघर्षों से असंग लोग।

वेंकटेश कुमार- मैं धूमिल को एक बार फिर उद्धृत कर रहा हूँ। इस बार उनके लेख का एक टुकड़ा- "युवा लेखन अपना काम कर रहा है। पत्रिकाओं में और किताबों में, पाठयपत्रों में संठ होने की जगह वह तेजी से 'जरूरी जनता' के हाथों तक उनकी जुबान तक पहुँच रहा है। नये आंकड़े से करो तो पता चले कि युवा लेखन सम्बन्ध लोगों का दस्ता

कितना बड़ा है और किस तरह तेजी से बड़ रहा है। और यह पर्दानसीन साहित्यक चंचलेबाजी..... नाश हो इसका। इसका खात्मा जरूरी है। जो शुरू हो चुका है।” धूमिल किस पर्दानसीन साहित्यक चंचलेबाजी के होने की बात कर रहे थे ?

काशीनाथ- ‘पर्दानसीन साहित्यक चंचलेबाजी’ यह क्लृप्त ढंग से कविता लिखने वाले या भ्रष्ट लोग की कविता लिखने वाले लोगों के लिए है। धूमिल का मानना था कि ये चीजें खत्म हो जाएंगी। यानी खासतौर से जो परिमलिय सोच के, या अज्ञेय की तरह के जो लोग हैं। यानि जिसे किसी तरह की तकलीफ नहीं है, सुखी जीवन जीने वाले जो लोग हैं, ए.सी. में बैठने वाले जो लोग हैं, तो ऐसे ही लोगों की ओर धूमिल ने संकेत किया है कि इसका खात्मा होगा।

वेंकटेश कुमार- अज्ञेय से धूमिल की कभी मुलाकात हुई थी ?

काशीनाथ सिंह- धूमिल के लेखन में अज्ञेय का जिफ है कहीं ? मानो उनसे मुलाकात का कोई प्रसंग धूमिल ने लिखा है ? मुझे तो याद नहीं आ रहा है। मुझे याद नहीं है कि धूमिल ने अज्ञेय को देखा हो। निराला को भी नहीं देखा था धूमिल ने।

वेंकटेश कुमार- धूमिल के लिए शहर और गाँव के क्या मायने थे ? गाँव में अपने पड़ोसी से मुकदमा लड़ते हुए धूमिल की जिंदगी बीत गई। जब उनका देहांत हुआ तो उस समय भी उन पर 12 मुकदमे दर्ज हुए थे। जाहिर है कि गाँव उनके लिये कोई स्वर्ग नहीं था। लेकिन शहर को लेकर ऐसी विरक्ति क्यों थी उनके मन में ? अशोक वाजपेयी के कविता-संग्रह ‘शहर अब भी संभावना है’ का क्या विज्ञापन देखकर फोड़ित होते हुए धूमिल ने आपसे कहा कि हम समझते थे कि यह अपना आदमी है, लेकिन यह तो कहता है कि ‘शहर अब भी संभावना है’शहर संभावना नहीं फंटा है। यहाँ सवाल यह भी उठता है कि धूमिल अशोक वाजपेयी को अपना आदमी क्यों समझ रहे थे ?

काशीनाथ सिंह- धूमिल को लगता था कि शहर ही किसानों के शोषण का जिम्मेदार है। शहर में भी वैसे ही गरीब हैं जैसे गाँव में हैं। यह धूमिल नहीं देख पाते थे। वे एक सामान्यीकरण सा कर देते थे। अगर व्यवस्थित रूप से वे मार्क्सवादी होते तो वर्गों के आधार पर देख सकते थे कि शोषित होने वाला वर्ग शहरों में भी है। वे गाँव बनाम शहर देखने लगते थे। उनको लगता था कि शहर गाँव को खरीद रहा है। गाँव मेहनत कर रहा है और उसका फायदा शहर उठा रहा है। शहर उनके लिये एक व्यक्ति की तरह था। शहर में कितने क्लास होते हैं- इन सब चीजों को वे नहीं देखते थे। अशोक से बड़े अच्छे सम्बन्ध थे धूमिल के। सिद्धी में अशोक जब कलैक्टर थे तो महीने में एक दिन बनारस आ जाया करते थे। हमसे मिलते थे, धूमिल से मिलते थे। धूमिल के साथ रहते थे। अशोक पसन्द करते थे धूमिल को। 70-71 के आस पास सिद्धी ने अशोक ने पहचान सीरिज का जो पहला आयोजन किया था उसमें हम और धूमिल साथ ही गये थे। धूमिल एक तरह से गाँव के किसानों के ‘दुखों और संघर्षों’ के प्रवक्ता के रूप में देखते थे खुद को। और उसी हैसियत से शहर सम्भावना नहीं फंटा है, कहीं भी।

वेंकटेश कुमार- स्त्रियों के बारे में कैसे ख्याल रखते थे धूमिल ? अपनी पत्नी या प्रेमिका के बारे में कुछ बात करते थे आपसे ? धूमिल अपनी कविताओं में स्त्री-छवि का अजीबो-गरीब इस्तेमाल करते हैं- ‘उसने जाना कि हर लड़की तीसरे गर्भपात के बाद/धर्मशाला हो जाती है और कविता/हर तीसरे पाठ के बाद’। गर्भाधान और गर्भपात धूमिल की कविताओं में खूब आते हैं, क्या वजह है इसकी।

काशीनाथ सिंह- लगभग 8-10 साल हम लोगों की दोस्ती रही। धूमिल ने किसी लड़की से प्रेम किया, यह मुझे नहीं मालूम। दूसरे की शहर या गाँव में किसी लड़की में उनकी दिलचस्पी पैदा हुई, यह भी मैंने नहीं

देखा। तीसरे, चूँकि उनकी पत्नी घर की मालकिन थी इसलिए कहीं भी धूमिल का स्थानांतरण हुआ हो, उनकी पत्नी कभी उनके साथ नहीं रही। मेरी जानकारी में एक बार उन्होंने मुझे बताया कि पड़ियाइन आई हुई है, हम मिलवायेंगे उनसे। जब मैं पहुँचा तो बताया कि देर कर दिया तुमने वे गाँव चली गयी। वे घर की मालकिन थी, सारा कुछ उन्हें देखना पड़ता था। इसलिए ज्यादा दिन घर से बाहर नहीं रह सकती थी। औरतों के लेकर जो एक सामन्ती सोच होती है, मर्दों की वह धूमिल में बची हुई थी। यानी इस सोच से वे मुक्त नहीं हो सके थे। दूसरे उस वक्त तक गर्भ निरोधक चीजों को ज्यादा प्रचार नहीं हुआ था गाँवों में। गर्भपात जैसी घटनाएं घटित रहती थी गाँवों में। अवैध सम्बन्ध भी बनते थे गाँवों में। धूमिल का कहना था कि मौन-अंगों का इस्तेमाल विस्फोटक की तरह करना चाहिए और ऐसा वे अपनी कविताओं में करते भी थे। कह सकते हो कि यह भूखी पीढ़ी का भी असर है।

वेंकटेश कुमार- आज भी आप कविता को बकवास और निरर्थक ही मानते हैं ?

काशीनाथ सिंह- ऐसी कोई बात नहीं है। कविता से बहुत कुछ सीखा है मैंने। ‘उपसंचार’ उपन्यास में कविताएं हैं। कविता का इस्तेमाल किया है मैंने।

वेंकटेश कुमार- कविता न लिख पाने का जो अप्सोस है उसे लगता है कि ‘पहुआचरित’ और ‘उपसंचार’ जैसी रचनाओं के माध्यम से दूर कर रहे हैं.....

काशीनाथ सिंह- (हँसते हुए) हो सकता है।

वेंकटेश कुमार- धूमिल की लखनऊ में जब मौत हुई तो वहाँ दो रचनाकार पहुंचे- कुंवर नारायण और श्रीलाल शुक्ल। मणिकर्णिका घाट पर जब धूमिल की लाश लाई तो बकौल राजशेखर-“कैसा विद्रुप है कि धूमिल की अर्थी को काशी एक भी साहित्यकार अपना कंधा नहीं दे सका। आप

कहाँ थे उस वक्त ? उनकी मौत के बाद बनारस में शोक सभा का आयोजन हुआ था ? यदि कुछ याद आ रहा है तो बताइए।

काशीनाथ सिंह- बनारस के साहित्यकारों को कोई खबर ही नहीं लि पायी थी कि कब उनकी अर्धी आ रही है, कब वो घाट पर जायेंगे। मणिकर्णिका घाट पर उनका शवदाह हो रहा है, इसकी सूचना बनारस के किसी साहित्यकार को नहीं थी। खुद मुझे नहीं थी। जब गाँव में उनकी तबीयत खराब थी तो उन्होंने कहा कि मुझे बनारस ले चलो और काशी को बुलवाओ। मैं भी उन्हें अस्पताल लेकर गया था- वी.एच.यू. पहले आँख वाले डॉक्टर से दिखाया। सोचा कि आँख की समस्या है। लेकिन डॉक्टर ने कहा कि आँख की कोई समस्या नहीं है। फिर मालूम हुआ कि धूमिल की बिमारी का सम्बंध सिर से है। जब धूमिल गाँव से आये तो मैंने देखा कि उनका ललाट जला हुआ था। पता चला कि धथूरा सरसों आदि पीस कर लगाने से ऐसा हो गया है। मैं यह देखकर स्तब्ध रह गया कि धूमिल को यह क्या हो गया ! वे कहते थे कि सिर में दर्द रहता है। हम लोगों ने यह नहीं सोचा था कि इतनी भयानक बिमारी पल रही है। ब्रेन ट्यूमर बहुत बढ़ गया था। डॉक्टर कटियार ने देखकर यह सब कुछ बताया। मैं डॉक्टर कटियार के पास उन्हें छोड़कर थोड़ी देर के लिए बी.एच.यू. में हिंदी-विभाग चला गया, कुछ काम से। वहाँ से मैं फिर अस्पताल आया तो धूमिल कहीं दिखाई नहीं पड़े। मैं परेशान हुआ। मैं वहाँ गया जहाँ धूमिल रहते थे। वहाँ भी ताला लगा हुआ पाया। फिर मैं यूँ ही लौट रहा था कि गजानंद मन्तकंठ मिल गये। मैंने कहा कि धूमिल कहाँ चला गया ? तो उन्होंने बताया कि काशी-विश्वनाथ ट्रेन से हो सकता है कि लखनऊ चले गये हों। क्योंकि डॉक्टर ने कह दिया था कि जल्दी ले जाइए। लखनऊ में ठाकुर प्रसाद सिंह थे, श्रीलाल शुक्ल थे, कुंवर नारायण थे.....कक्कड़ थे और दूसरे लोग थे। ऑपरेशन हुआ, ऑपरेशन होने के बाद लगा

कि वे ठीक हो जाएंगे। मेरे पास उनका एक पोस्टकार्ड आया था, एक लाइन का- 'जल्दी ही ठीक होकर आ रहा हूँ, चिंता मत करो। (काशीनाथ जी की आँखें भर आती हैं, कुछ देर के लिए मौन हो जाते हैं)। तो उम्मीद थी कि ठीक हो जाएंगे। शायद उनके घर वाले लोगों को उनके महत्त्व का पता नहीं था। शायद उन्हें नहीं काशी में धूमिल के चाहने वाले कितने हैं ?

वेंकटेश कुमार- जी, आप सही कह रहे हैं। रेडियों पर जब उनके घर वालों ने उनकी मौत की खबर सुनी, तो सभी आश्चर्यचकित रह गये कि धूमिल इतना बड़ा आदमी था !

काशीनाथ जी- अगर हम लोगों का उनकी माटी आने का पता होता तो 20-25 लोग तो अस्सी से ही जाने वाले थे। किसी को पता नहीं चला। उनके देहांत के कुछ दिनों बाद मैंने एक गोष्ठी की थी। यह श्रद्धांजलि गोष्ठी थी। मैं एक पत्रिका निकालता था उन दिनों 'परिवेश' नाम से। काशी हिंदू विश्वविद्यालय में यह गोष्ठी हुई थी। इस पत्रिका में इस गाष्ठी की रिपोर्ट छपी थी। वह अंक आज भी है मेरे पास। इसमें धूमिल की कविताओं के चुने हुये अंश भी मैंने छपा था। उस गोष्ठी में गोरख पांडे अपने जे.एन.यू. के कुछ साथियों के साथ आए थे। कल्पना कीजिए आप कि धूमिल के मरने के कुछ ही दिन बाद, दो-चार दिन बाद मैंने वह गोष्ठी की थी। और उस गोष्ठी में लोगों ने धूमिल के खिलाफबातें करनी शुरू कर दी। गोरख पांडे ने कहा कि अराजक कवि हैं, मार्क्सवाद से इसका कोई संबंध नहीं था। आज लोग अपने कवि के रूप में धूमिल की कविताएँ उद्धृत करते हैं। दूसरे संगठन वाले भी देते हैं। चूंकि धूमिल अक्खड़ थे और खरी-खोटी सुनाने से चूकते नहीं थे। और अध्यापकों को तो वे घोर नापसंद करते थे। बच्चन सिंह, शिवप्रसाद सिंह आदि के बारे में उनका कहना था कि इन लोगों को कविता की कोई समझ नहीं है। लोग मुझ पर भ्नी नाराज हो जाते थे, अप्रसन्न रहते थे कि ऐसे व्यक्ति को मुँह लगा के रखता

है, गोरख पांडे और उनके साथियों ने उस गोष्ठी में कहा कि धूमिल अराजक कवि थे, उनकी कोई विचारधारा नहीं थी। और ऐसा माहौल बना दिया कि बात ही न हो सकी।

क्या नशा बहुत करते थे धूमिल ?

धूमिल ऐसा कवि था जिसने जीवन में नशा किया ही नहीं था। न भांग, न गांजा, न बीड़ी, न सिगरेट, न दारू। एक बार हम सहारनपुर गये थे, धूमिल के यहाँ और रहे थे हफ्ते भर। तो वहाँ एक दिन इच्छा हुई बीयर पीने की। हम और धूमिल साथ जाकर एक बोतल बीयर ले कर आए। तो हमने कहा कि यार अकेले हम क्या पीएंगे, तुम भी लो, साथ दो। मना किया उसने। फिर हमने थोड़ा-सा एक गिलास में दिया। उसने कहा कि देखें हम भी कि किसलिए पीते हो ! जरा सा लिया और थूक दिया। फिर कहा कि घोड़े के मूत की तरह है, कैसे पीते हो तुम लोग ?

वेंकटेश कुमार- मंदिर जाते थे ?

काशीनाथ सिंह- नहीं। जनेऊ पहनते थे। लेकिन मंदिर नहीं जाते थे। मंदिर जाते हुए मैंने कभी नहीं देखा, पूजा करते हुए मैंने कभी नहीं देखा।

वेंकटेश कुमार- धूमिल को यह संस्कार कहाँ से मिला ?

काशीनाथ सिंह- यह मार्क्सवाद का ही असर था। भगवान पर कभी बात ही नहीं होती थी। नास्तिक थे धूमिल।

वेंकटेश कुमार- पसंदीदा किताबें ?

काशीनाथ सिंह- कई किताबें हैं। त्रिलोचन की 'धरती' उन्हें बहुत प्रिय थी।

वेंकटेश कुमार- धूमिल के बारे में कुछ और कहना चाहेंगे जो छूट रहा हो।

काशीनाथ सिंह- धूमिल के जाने के बाद फिर मेरा कोई बनारस में वैसा हुआ नहीं। अकेला हो गया मैं एकदम। कविताओं में तो मेरी रूचि ही खत्म हो गई उसके बाद। उसकी कविताओं से इतने जुड़े हुए थे हम कि कोई वाक्य अगर आया तो उसकी कविता में कैसे बना, कौन से शब्द बदल जाए, कौन रहे, इन सब पर बात होती थी। ■

एक अराजक कवि की जलती हुई पटकथा

■ प्रियदर्शन

वरिष्ठ आलोचक

संपर्क : ई-4, जनसत्ता
सोसाइटी, सेक्टर- नौ,
वसुंधरा, गाज़ियाबाद-
201012

“अंधेरे में” कविता का ए।

इन दिनों जब भारत के संसदीय लोकतंत्र में इवास्तविक जनतांत्रिक प्रक्रिया कई तरह के दबावों से घिरी है, जब वह बाहुबलियों, धनपशुओं और सांप्रदायिक ताकतों के खेल का आंगन बनी हुई है, जब अराजकता, उम्मीद और वैकल्पिक राजनीति जैसे ढेर सारे शब्द हवा में हैं, तब हिंदी के उस कवि को याद करना नामुनासिब नहीं होगा जिसे अराजक कहा गया लेकिन जिसने अपनी कविता में बिल्कुल जलते हुए अंदाज़ में शोलों की तरह सवाल उठाए थे। दरअसल हिंदी साहित्य में भारतीय राजनीति का कोई असली प्रतिपक्ष खोजना हो तो वह धूमिल की कविता में मिलता है।

यह अनायास नहीं है कि उन्होंने अपने संग्रह को ‘संसद से सड़क तक’ जैसा नाम दिया। 1972 में आए इस संग्रह की कविताएं पढ़ते हुए जैसे नसों से एक आग सी गुज़रती है। करीब आधी सदी पहले सुदामा पांडेय यानी धूमिल ने भारत के संसदीय लोकतंत्र को, चुनावी राजनीति को, आम आदमी की विवशता को, मध्यवर्ग के आपराधिक चरित्र को और तार-तार होते हिंदुस्तान को इस तरह देखा जैसे पहले किसी ने नहीं देखा था।

आम आदमी की छटपटाहट, गरीब आदमी के स्वाभिमान, राजनीति के छल और संस्थाओं के क्षय की वे तड़कती हुई दास्तानें धूमिल की कविताओं में नए और अनूठे मुहावरों से लैस होकर आईं जिन्हें दुहराने की बहुत सारी कोशिशें हुईं लेकिन ज्यादातर नाकाम साबित हुईं। लेकिन यह काव्यभाषा या मुहावरे की ईजाद नहीं थी जिसके लिए धूमिल यह सब रच रहे थे, यह समझ उनके भीतर बहुत पुख्ता थी कि कविता का एक मकसद है। इसी संग्रह में उन्होंने लिखा था-

‘इस ससुरी कविता को / जंगल से जनता तक / ढोने से क्या होगा? / आपै जवाब दो / मैं इसका क्या करूं? / तितली के पंखों में पटाखा बांध कर / भाषा के हलके में / कौन सा गुल खिला दूं? / जब ढेर सारे

दोस्तों का गुस्सा / हाशिये पर / चुटकुला बन रहा है / क्या मैं व्याकरण की नाक पर / रुमाल लपेट कर / निष्ठा का तुक / विष्ठा से मिला दूं?’

दरअसल कविता धूमिल के लिए वह रचनात्मक हस्तक्षेप थी जिसके जरिए वे गरीब और कमज़ोर लोगों के पक्ष में खड़े होते थे, आहत मनुष्यता को आवाज़ देते थे और लोकतंत्र में बढ़ रहे सुराखों की स्तब्धकारी शिनाख्त करते थे। और यह भाषा नहीं थी, उनके भीतर की बेचैनी, छटपटाहट और अपने चारों तरफ फैले यथार्थ से एक जिद्दी मुठभेड़ थी जो कविताओं में ढलती थी- ऐसी वेधक पारदर्शिता के साथ जिससे पाठक बिल्कुल अवश सम्मोहन में बंध कर रह जाता है। फिर दुहराने की जरूरत है कि यह कौशल सिर्फ भाषा का नहीं है, उस बहुत गहरी संवेदनशीलता और उससे पैदा हुई दृष्टि का है जिसके सहारे धूमिल यथार्थ की तमाम परतें हटा कर जैसे किसी जलते हुए सच को छू लेते हैं।

‘मोचीराम’ जैसी कविता इसका अप्रतिम साक्ष्य है जो हिंदी की बेहतरीन कविताओं में रखी जा सकती है- ‘रांपी से उठी हुई आंखों ने मुझे / क्षण भर टटोला / और फिर / जैसे पतियाये हुए स्वर में / वह हंसते हुए बोला- / बाबूजी! सच कहूं- मेरी निगाह में / न कोई छोटा है न कोई बड़ा है / मेरे लिए हर आदमी एक जोड़ी जूता है / जो मेरे सामने / मरम्मत के लिए खड़ा है। यह पूरी कविता कई तहों में खुलती है- एक तरह की किस्सागोई के साथ- जिसमें ‘तरह-तरह के जूते’ आते हैं और आदमी की अलग-अलग नवैयत बतलाते हैं। ‘मोची राम कहता है,’ और बाबूजी, असल बात तो यह है कि जिंदा रहने के पीछे / अगर सही तर्क नहीं है / तो रामनामी बेचकर या रंडियों की / दलाली करके रोजी कमाने में / कोई फर्क नहीं है।’

यह जीने का सही तर्क तलाशने की कोशिश है जिसके बीच धूमिल की कविता एक बेचैन आत्मा सी भटकती है और जब हम यह कविता पढ़ते हैं तो वह हमारे भीतर जैसे वास करने लगती है। वस्तुतः साठ

के दशक की हताशा और मोहभंग को हिंदी साहित्य और कविता में तरह-तरह से शब्द दिए गए हैं लेकिन उसका सबसे प्रबल आक्रोश- अपने पूरे देशज भेदसपन के साथ- धूमिल में मिलता है- 'इतना कायर हूँ कि उत्तर प्रदेश हूँ।'

हिंदी में लंबी कविताओं का जिक्र छिड़ता है तो सबसे पहले मुक्तिबोध की वे कविताएं याद आती हैं जिनमें आजादी के बाद दिखने वाले अंधेरे की घुटन अलग तरह की वेदना की तरह रिसती हुई सामने आती हैं। लेकिन मुक्तिबोध की अंतर्घनीभूत पीड़ा से बिल्कुल अलग धूमिल का बेहद मुखर आक्रोश कुछ इस तरह फूटता और हमसे टकाराता है कि हम अपने भीतर एक झनझनाहट सी महसूस करते हैं- इस झनझनाहट का कुछ वास्ता इस बात से भी है कि धूमिल कितनी सहजता से कैसी-कैसी सच्चाइयों का परदा हटा देते हैं-

'यद्यपि यह सही है कि मैं / कोई टंडा आदमी नहीं हूँ / मुझमें भी आग है- / मगर वह / भभक कर बाहर नहीं आती / क्योंकि उसके चारों तरफ चक्कर काटता / एक पूंजीवादी दिमाग है / जो परिवर्तन तो चाहता है / मगर आहिस्ता-आहिस्ता / कुछ इस तरह कि चीजों की शालीनता बनी रहे / कुछ इस तरह कि कांख भी ढंकी रहे / और विरोध में उठे हुए हाथ की / मुट्टी भी तनी रहे / और यही वजह है कि बात / फैलने की हद तक / आते-आते रुक जाती है / क्योंकि हर बार / चंद टुच्ची सुविधाओं के लालच के सामने / अभियोग की भाषा चुक जाती है।'

मुक्तिबोध के 'अंधेरे में' के भीतर आधी रात को डोमाजी उस्ताद के पीछे-पीछे चलने वाले पत्रकार, सैनिक, ब्रिगेडियर, जनरल धूमिल की पटकथा में बिल्कुल परिभाषित कर दिए जाते हैं-

'वे वकील हैं। वैज्ञानिक हैं। / अध्यापक हैं। नेता हैं। दार्शनिक हैं। लेखक हैं। कवि हैं। कलाकार हैं। / यानी कि- / कानून की भाषा बोलता हुआ / अपराधियों का एक संयुक्त परिवार है।'

वैसे तो धूमिल का सारा काव्य विधान जैसे नसों को लगभग तड़का देने वाली भाषा में बना है, लेकिन 'पटकथा' उस प्रक्रिया को चरम तक ले जाने वाली कविता है-

'सुनो! / आज मैं तुम्हें वह सत्य बताता हूँ / जिसके आगे हर सच्चाई / छोटी है। इस दुनिया में /

भूखे आदमी का सबसे बड़ा तर्क / रोटी है। / मगर तुम्हारी भूख और भाषा में / यदि सही दूरी नहीं है / तो तुम अपने-आप को आदमी मत कहो / क्योंकि पशुता- / सिर्फ पूंछ होने की मजबूरी नहीं है'- धूमिल कहते हैं और यह कविता अचानक मार्मिक हो उठती है। इन सबके बीच, कविता में नेताओं के वादों से छला हुआ, भूख की आग में जला हुआ, चुनाव दर चुनाव देखता हुआ, उम्मीदों के चीथड़े पहने हुए 'खून और आंसू से तर चेहरा' लिए हुए जैसे एक पूरा मुल्क बोलता है-

'दुखी मत हो। यही मेरी नियति है। / मैं हिंदुस्तान हूँ। जब भी मैंने / उन्हें उजाले से जोड़ा है / उन्होंने मुझे इसी तरह अपमानित किया है / इसी तरह तोड़ा है।'

यह धूमिल की पटकथा है- भूख, बेचैनी, गुस्से, यथार्थ और सपने के बीच बनती हुई- समाजवाद से लेकर नक्सलवादी तक आती-जाती हुई, संविधान से लेकर संसद तक सवाल खड़े करती हुई और अंततः एक वेधक उदासी में विसर्जित होती हुई-

'मेरे सामने वही चिर-परिचित अंधकार है / संशय की अनिश्चयग्रस्त टंडी मुद्राएं हैं / हर तरफ / शब्दवेधी सत्राटा है। /...घृणा में / डूबा हुआ सारा का सारा देश / पहले की ही तरह आज भी / मेरा कारागार है।'

आजादी के लिबास में छुपी हुई गुलामी और लोकतंत्र की छाया में चल रहे शोषण और दमन की यह 'पटकथा' अभी ठीक से पढ़ी जानी बाकी है- लेकिन इसे पलटते ही जैसे एक आग सी सुलगने लगती है, एक बेचैनी सी घेरने लगती है। जैसे एक तरह का निहिलिज्म- विध्वंसवाद- एक तरह की अनार्की- या अराजकता- उनकी कविता के बीज और फल दोनों हों। यह सब कुछ तहस-नहस कर सकने वाली ऊर्जा से लैस मूर्तिभंजक कविता लेकिन जहां पाठकों को बेहद आकर्षित करती है और धूमिल को हिंदी के सबसे पठनीय कवियों के बीच ला बिठाती है, वहीं उन्हें आलोचकों के लिए समस्याग्रस्त भी बनाती है। आलोचक जैसे इस कविता से आंख मिलाते हुए बचते हैं। यह कविता उनकी वैचारिक राजनीति के दायरे में नहीं समाती। यह वैसी वाम कविता नहीं है जो वे चाहते हैं।

बेशक, धूमिल के काव्यकर्म की अपनी

'अंधेरे में' से पता चलता है कि मुक्तिक्ष को जोड़ा। हृदय-पक्ष यानी व्यक्ति का उभरते हुए नए मध्यवर्ग की शक्ति को पहचाना।

समस्याएं हैं जिनका वास्ता जितना धूमिल से है उतना ही शायद उस समय की वैचारिक सारणियों से भी। एक तरह का अनजाना पुरुष-दंभ इन कविताओं में जब-तब उभर आता है- 'मैंने जिसकी भी पूंछ उठाई है, उसे मादा पाया है' जैसी अभिव्यक्तियों में। इसके अलावा एक तरह का बोहेमियन तेवर हमारी मध्यवर्गीय चेतना- अगर इसे चेतना कह सकें तो- के साथ भी कुछ मेल नहीं खाता। राजकमल चौधरी की स्मृति के नाम पर धूमिल ने जो नायाब कविता लिखी है, वह दरअसल उनके अपने व्यक्तित्व, उनकी अपनी दुर्धर्षता (दूरदर्शिता) का भी सुराग देती है- 'एक बात साफ थी / उसकी हर आदत, दुनिया के व्याकरण के खिलाफ थी।' लेकिन धूमिल को मालूम था कि रचने के लिए जीने की दी हुई विधियों के पार जाना होगा, जिंदगी और शायरी के अपने मायने खोजने होंगे और किसी की परवाह भी नहीं करनी होगी-

'उसे जिंदगी और जिंदगी के बीच / कम से कम फासला / रखते हुए जीना था / यही

वजह है कि वह / एक की निगाह में हीरा आदमी था / तो दूसरी निगाह में /कमीना था।'

यह एक जलता हुआ जनतंत्र है जिसमें धूमिल की कविता आपको आमंत्रित करती है। वह गलीज होने की हद तक आक्रामक अपनी भाषा में आपसे सारी राहतें छीन लेती है- मध्यवर्गीय पाखंड को तार-तार करते हुए- और राजनीतिक विद्रूप को एक नई भाषा में पढ़ते हुए। यह धूमिल जैसा कवि ही पूछ सकता है कि 'क्या आजादी सिर्फ तीन थके हुए/रंगों का नाम है, जिन्हें एक पहिया ढोता है, या इसका खास मतलब होता है?' रोटी बेलने वालों के बीच रोटी से खेलने वालों की शिनाख्त से बचती हुई, मौन रह जाने वाली संसद पर धूमिल जैसा कवि की ताना कस सकता है।

हिंदी कविता की भिन्न-भिन्न आवाजों के संदर्भ में सोचें तो धूमिल मुझे मुक्तिबोध और रघुवीर सहाय के बाद वह तीसरी बड़ी आवाज लगते हैं जो हमारे लिए हमारे जटिल समय के कई ताले खोलते हैं। मुक्तिबोध के

भीतर छटपटाहट और वेदना शायद धूमिल जैसी है- लेकिन वे इस छटपटाहट के भीतर और भीतर उतरते जाते हैं- और अपनी अंतर्भूत चेतना से इस लोकतांत्रिक समय के अंधेरे की शिनाख्त भी करते हैं और उसके पार जाने का रास्ता भी खोजते हैं। रघुवीर सहाय के यहां निरी लेकिन इतनी तहदार वैचारिकता है कि वह कविता न लगते हुए भी निहायत कविता हो उठती है- वह जैसे हमारे सीवन खोलकर हमें हमारे राज बताती है। धूमिल इसके तीसरे सिरे पर खड़े हैं।

जो बम मुक्तिबोध के भीतर कहीं दबा पड़ा है और रघुवीर सहाय के यहां टिकटिक करता नजर आता है, वह धूमिल की कविता तक आते-आते जैसे फट पड़ता है- कुछ इस तरह कि उसके किरचे सीधे हमारी आत्माओं पर पड़ते हैं। राहत इन तीनों में कोई नहीं देता, लेकिन रास्ते इनकी कविता में हम अलग-अलग ढंग से खोज पाते हैं। निस्संदेह, इन सबको बार-बार पढ़े जाने की जरूरत है- और धूमिल को नए सिरे से समझे जाने की। ■

मेरे निकट पड़ोस की पहचान है रचना

■ धूमिल

कहते हैं कि देश सपनों में बनता है। लेकिन, **क** सपने हमारे मन के कारखाने में बनते हैं। तो फिर, देश कैसा है और उसे कैसा होना चाहिए जैसे सवाल की उधेड़-बुन के लिए हमें सबसे पहले अपने मन के कारखाने में झांकना चाहिए। देखना चाहिए कि मन के कारखाने में किन चीजों को हमने मनचीता पाकर बटोर लिया है। और, इन चीजों के साथ मन के कारखाने में चलने वाली कीमियागिरी की ओर भी नजर डालनी चाहिए ताकि पता चले कि कौन-से सांचे हमारे मन में परम महिमावान होकर पड़े हैं। क्योंकि, कुछ सांचों को हम पवित्र मानते हैं और पवित्र मानने के कारण ही अपने सपने में देश की मूर्ति उन्हीं सांचों के भीतर ढालकर तैयार करते हैं।

अपने सपने में बनते देश की खोज-बीन करने के लिए अपने ही मन में झांकने का यह काम बहुत कठिन है। सबसे नहीं सधता यह काम! मिसाल के लिए रबीन्द्रनाथ टैगोर के जीवन-प्रसंगों पर हाल ही में प्रकाशित एक पुस्तक.....को देखा जा सकता है। इस पुस्तक की समीक्षा पुस्तक-वार्ता में छपी और समीक्षा की पंक्तियों को पढ़ने से लगता है मानो पुस्तक के लेखक ने एक तरह से रबीन्द्रनाथ टैगोर के जीवन के बारे में जरूरी रहस्योद्घाटनों का एक सिलसिला ही कायम कर दिया है। किताब में रहस्योद्घाटनों की शुरुआत रबीन्द्रनाथ टैगोर के पितामह द्वारकानाथ टैगोर से होती है, जिन्होंने 'ईस्ट इंडिया कंपनी की साझेदारी में 1834 में टैगोर एंड कंपनी नामक व्यापारिक प्रतिष्ठान की स्थापना की थी। ऐसे संबंधों के चलते तत्कालीन ब्रिटिश साम्राज्य ने उन्हें प्रिन्स की उपाधि से विभूषित किया था। टैगोर नाम भी अंग्रेजों का दिया हुआ था। वे दो बार लंदन गए और 1846 में उनका निधन भी लंदन में हुआ। टैगोर परिवार को ब्रिटिश भक्ति के एवज में आज के बांग्लादेश से लेकर ओडिशा तक हजारों वर्ग किलोमीटर भूभाग की जमींदारी हासिल

“अंधेरे में” कविता
का ए।

फॉसिस न्यूटन सूज़ा की एक कलाकृति

नेमिचंद जैन का मिलना
मुक्तिबोध के गये थे।'

श्री अमृत राय द्वारा श्री मुक्तिबोध को लिखा यह पत्र स्वामी सहजानंद सरस्वती संग्रहालय,
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय में संरक्षित है।

श्री अमृत राय द्वारा श्री मुक्तिबोध को लिखा यह पत्र स्वामी सहजानंद सरस्वती संग्रहालय, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय में संरक्षित है।

टैगोर के अंतर्जगत की एक तीर्थयात्रा

■ चंदन श्रीवास्तव

आलोचक

संपर्क: सीएसडीएस, 29,
राजपुर रोड, दिल्ली-110006

कहते हैं कि देश सपनों में बनता है। लेकिन, सपने हमारे मन के कारखाने में बनते हैं। तो फिर, देश कैसा है और उसे कैसा होना चाहिए जैसे सवाल की उधेड़-बुन के लिए हमें सबसे पहले अपने मन के कारखाने में झांकना चाहिए। देखना चाहिए कि मन के कारखाने में किन चीजों को हमने मनचीता पाकर बटोर लिया है। और, इन चीजों के साथ मन के कारखाने में चलने वाली कीमियागिरी की ओर भी नजर डालनी चाहिए ताकि पता चले कि कौन-से सांचे हमारे मन में परम महिमावान होकर पड़े हैं। क्योंकि, कुछ सांचों को हम पवित्र मानते हैं और पवित्र मानने के कारण ही अपने सपने में देश की मूर्ति उन्हीं सांचों के भीतर ढालकर तैयार करते हैं।

अपने सपने में बनते देश की खोज-बीन करने के लिए अपने ही मन में झांकने का यह काम बहुत कठिन है। सबसे नहीं सधता यह काम! मिसाल के लिए रबीन्द्रनाथ टैगोर के जीवन-प्रसंगों पर हाल ही में प्रकाशित एक पुस्तक 'टैगोर : एक दूसरा पक्ष' (लेखक: गीतेश शर्मा) को देखा जा सकता है। इस पुस्तक की समीक्षा पुस्तक-वार्ता में छपी और समीक्षा की पंक्तियों को पढ़ने से लगता है मानो पुस्तक के लेखक ने एक तरह से रबीन्द्रनाथ टैगोर के जीवन के बारे में जरूरी रहस्योद्घाटनों का एक सिलसिला ही कायम कर दिया है। किताब में रहस्योद्घाटनों की शुरुआत रबीन्द्रनाथ टैगोर के पितामह द्वारकानाथ टैगोर से होती है, जिन्होंने 'ईस्ट इंडिया कंपनी की साझेदारी में 1834 में टैगोर एंड कंपनी नामक व्यापारिक प्रतिष्ठान की स्थापना की थी। ऐसे संबंधों के चलते तत्कालीन ब्रिटिश साम्राज्य ने उन्हें प्रिन्स की उपाधि से विभूषित किया था। टैगोर नाम भी अंग्रेजों का दिया हुआ था। वे दो बार लंदन गए और 1846 में उनका निधन भी लंदन में हुआ। टैगोर परिवार को ब्रिटिश भक्ति के एवज में आज के बांग्लादेश से लेकर ओडिशा तक हजारों वर्ग किलोमीटर भूभाग की जमींदारी हासिल हुई थी।'

लेखक टैगोर परिवार की 'ब्रिटिश-भक्ति' को तथ्यों

के सहारे इशारों-इशारों में जताना चाहता है कि रबीन्द्रनाथ टैगोर की देश-भक्ति या फिर समाज-सुधार की भावना अपेक्षा के अनुरूप नहीं रही। लेखक यह बताता जरूरी समझता है कि रबीन्द्रनाथ टैगोर ने 'अपने जीवन में मात्र एक बंग-भंग विरोधी जन-आंदोलन में भाग लिया और उसमें नेतृत्वकारी भूमिका निभायी परंतु वह आंदोलन बंग-भंग के विरुद्ध था न कि भारत की स्वाधीनता के लिए। बंग-भंग आंदोलन के बाद तो रबीन्द्रनाथ ने राजनीति से लगभग संन्यास ही ले लिया।' वह तुलना करके बताता है कि रबीन्द्रनाथ का जन्म 7 मई 1861 को और विवेकानंद का 12 जनवरी 1863 को हुआ था। कलकत्ते के ही दो नजदीकी मोहल्लों शिमला (स्ट्रीट) और जोड़ासांको में दोनों पले-बढ़े। नरेन्द्रनाथ(स्वामी विवेकानंद) अक्सर रबीन्द्रनाथ के गीत गाते थे और जोड़ासांको ठाकुरबाड़ी में उनका आना-जाना भी होता था लेकिन फिर भी हमेशा दोनों भिन्न जगत में रहते थे..यह एक सर्वविदित तथ्य है कि टैगोर विवेकानंद और रामकृष्ण परमहंस के कार्यकलापों से मतभेद रखते थे।'

सोचें कि रबीन्द्रनाथ टैगोर के बारे में जो मन ऐसे तथ्यों को खोजने निकलता है उसके भीतर देश का सपना तैयार करने के लिए कौन-से सांचे मौजूद होंगे? रबीन्द्रनाथ टैगोर सरीखे राष्ट्र-निर्माता कहे जाने वाले व्यक्तित्वों के संदर्भ में यह सांचा अनिवार्य रूप से स्वतंत्रता-संग्राम और समाज-सुधार या फिर धर्म-सुधार आंदोलन में सक्रिय भागीदारी का है। यह समझ मानकर चलती है कि जो व्यक्ति ऐतिहासिक रूप से अंग्रेजी-राज की कृपा से जितना दूर होगा, वह आजादी की लड़ाई या फिर समाज और धर्म को शोधने के लिए चलने वाले आंदोलनों में उतने ही जुझारू तेवर तथा निरंतरता के साथ भागीदार होगा। लेकिन सवाल यह है कि सक्रिय राजनीति (स्वतंत्रता-संग्राम) या फिर सुधार-भावना को राष्ट्रनिर्माता होने के लिए सर्वाधिक जरूरी कसौटी क्यों माना जाए? इस सवाल को दूसरी तरह से ऐसे भी पूछा जा सकता है कि स्वतंत्रता-संग्राम के राजनीतिक आशयों

पुस्तक: यंग टैगोर : द मेकिंग ऑफ ए जीनियस
लेखक: सुधीर कक्कड़
प्रकाशक: पेंग्विन/वाइकिंग
प्रकाशन वर्ष: 2014
मूल्य: ₹ 499

को ही हमेशा एक महिमावान सांचे की तरह क्यों बरता जाए? क्या स्वतंत्रता-आंदोलन को एक सांस्कृतिक आंदोलन मानना ठीक नहीं होगा, यह समझना कि देश की आजादी की लड़ाई एक कोरस-गान की तरह थी और उसमें अंग्रेजी लाठियों की मार सहने वाले किसी सत्याग्रही के मुंह से निकले राजनीतिक नारे भी उतने ही जरूरी थे जितने कि किसी कवि के कंठ से फूटा कोई गीत? जब आप यह याद रखते हैं कि भारत की आजादी के आंदोलन का अजेंडा सिर्फ राजनीतिक आजादी या समाज-सुधार तक सीमित नहीं था बल्कि एक विराट सांस्कृतिक आंदोलन के रूप में वह स्वयं 'भारत' नाम की एक स यता के मूल विचार को गढ़ने का भी उपक्रम था तो फिर रबीन्द्रनाथ टैगोर सरीखे मनीषी की मूर्ति अपने सपनों में बनाते वक्त आपको हर चंद याल रहता है कि राजनीति या फिर धर्म-सुधार आंदोलन सरीखे सांचे अपने आकार-विस्तार में बहुत छोटे हैं। फिर आप सोच पाते हैं कि मन में महिमावान होकर पड़े सांचों के छोटे होने के कारण ही अपने सपने में मौजूद मूर्ति का कद बौना रह गया है।

सुधीर कक्कड़ की किताब 'यंग टैगोर: द मेकिंग ऑफ अ जीनियस' ठेठ इसी कारण से महत्वपूर्ण है। यह किताब आपको भारत विषयक कोई सपना गढ़ने से पहले अपने मन में मौजूद सांचों के बारे में सोचना सिखाती है। मिसाल के लिए टैगोर परिवार की 'ब्रिटिश-भक्ति' वाले उपर्युक्त ब्यौरे पर ही विचार करें। सुधीर कक्कड़ की किताब में आये तथ्यों के साथ अगर उपर्युक्त ब्यौरों को रख दें तो टैगोर की मूर्ति हमारे मन में एकदम ही अलग बनेगी। जैसे 'यंग टैगोर' में सुधीर कक्कड़ रबीन्द्रनाथ टैगोर के व्यक्तित्व के रंग-रेशों के निर्माण में निर्णायक रही घटनाओं का उल्लेख करते वक्त यह बताना जरूरी समझते हैं कि टैगोर परिवार के भीतर अपनी 'ब्रिटिश-भक्ति' और उससे हासिल धन और स मान के खिलाफ संघर्ष मन के धरातल पर पीढ़ियों से चलता आ रहा था। पीढ़ियों के इस संघर्ष को दर्ज करते हुए सुधीर कक्कड़ उपलब्ध ब्यौरों को नये सिरे से पढ़ना सिखाते हैं। वे लिखते हैं कि कई मायनों में रबि बाबू के पिता देबेन्द्रनाथ उतने ही विशिष्ट थे जितने कि रबि बाबू के दादा द्वारकानाथ। द्वारकानाथ को प्रिन्स उनके कौलिन्य के कारण नहीं बल्कि शाहाना ठाठ-बाट से रहने की वजह से कहा जाता था। लेकिन देबेन्द्रनाथ को महर्षि कहा गया यानी एक ऐसा नाम, जो किसी मर्मा

व्यक्ति को संन्यास का जीवन उपलब्ध होने पर, त्याग का जीवन जीने पर, दिया जाता है। युवावस्था में देबेन्द्रनाथ ने एक रईस का जीवन जीया था लेकिन 18 साल की उम्र में दादी के देहांत के समय उनके भीतर एक आध्यात्मिक परिवर्तन घटित हुआ। अपनी आत्मकथा के शुरुआती पन्नों पर देबेन्द्रनाथ कहते हैं मेरी दादी मुझे बहुत प्यार करती थी। मेरे बचपन में वही मेरे लिए सब कुछ थी। मेरा सोना, जागना, खाना..सब कुछ उसी के साथ होता था। मरणासन्न होने की स्थिति में दादी मां को रिवाज के मुताबिक नदी किनारे ले जाया गया। देबेन्द्र तीन दिन तीन रात लगातार उनके साथ रहे...

'और उस क्षण एक विचित्र सा भाव मन में प्रवेश कर गया था। भाव यह कि कोई भी चीज सच नहीं है। मैं पहले वाला आदमी नहीं रहा। धन के प्रति मेरे मन में गहरी वितृष्णा की भावना जगी। मैं बांस की चटाई पर बैठा हुआ था। कालीन और गलीचे से घृणा होने लगी। मेरा मस्तिष्क जाग उठा था। ऐसा आनंद मैंने पहले कभी अनुभव नहीं किया था। यह संन्यास का आनंद था, विरक्ति का आनंद।'

देबेन्द्रनाथ टैगोर के जीवन में आये इस बदलाव पर सुधीर कक्कड़ की टिप्पणी है कि 'देबेन्द्रनाथ ने जो रास्ता चुना था वह उनके पिता के रास्ते से अलग था और विरोध भी होना था। ज्यादातर भारतीय परिवारों की तरह पिता और पुत्र के बीच में यह विरोध बहुत प्रकट नहीं था। श्रद्धा और कर्तव्यभावना ऊपर से दिखती थी। सतह के नीचे एक मौन विद्रोह था जो कि ज्यादातर भारतीय बेटों में पाया जाता है। ऊपर से निष्प्रिय, भीतर से आक्रामक, एक ऐसा व्यवहार जो कभी खुलकर सामने नहीं आता। इसमें विनम्रता और मतभेद दोनों एक साथ बने रहते हैं। द्वारकानाथ चाहते थे कि देबेन्द्र उनके रास्तों पर चलें, धन के रास्ते पर और उन्हीं की तरह लक्ष्मीपुत्र बनें। उनका मन इस बात को लेकर बहुत दुःखी रहता था कि बेटा बिल्कुल विपरीत दिशा में जा रहा है।' और 'यंग टैगोर' में दर्ज है कि पिता की खींची लकीर से देबेन्द्रनाथ टैगोर ने मौका मिलते ही अपने को अलग कर लिया। द्वारकानाथ 1841 में पहली दफे इंग्लैंड गये थे। उनकी अनुपस्थिति में देबेन्द्रनाथ ने पारिवारिक व्यवसाय से बिल्कुल मुंह फेर लिया। और अपने को शास्त्रों के अध्ययन में झोंक दिया। संन्यासी व्यापार नहीं कर सकता। यही सोचकर उन्होंने व्यवसाय को एक ट्रस्ट में

स्वतंत्र भारत के
सर्वव्यापी अंधेरे को
सबसे पहले पहचानने
वाले हिंदे थे।



फासिस न्यूटन सूज़ा की एक कलाकृति

बदल दिया था। द्वारकानाथ के मरने के एक साल के भीतर उनकी व्यावसायिक फर्म दिवालिया हो गई। कर्ज देने वालों ने टैगोर परिवार की जायदाद पर कब्जा जमाया और कर्ज की वापसी तक 25000 रुपया सालाना टैगोर परिवार के भरण-पोषण के लिए तय हुआ। देबेन्द्रनाथ खुद लिखते हैं कि इस बात से उन्हें खुशी हुई। उन्होंने सोचा कि अध्यात्म के रास्ते पर वे अब ज्यादा ध्यानपूर्वक चल पायेंगे। दो साल बाद जब जायदाद हाथ में आई तो देबेन्द्रनाथ ने इसे छोटे भाई गिरीन्द्रनाथ के हवाले कर दिया। और, रबीन्द्रनाथ के जन्म के पाँच साल पहले वे संन्यासी रूप में घर छोड़ने का फैसला कर चुके थे।

चूँकि 'यंग टैगोर' देबेन्द्रनाथ टैगोर नहीं

बल्कि रबीन्द्रनाथ टैगोर के बारे में है इसलिए पूछा जा सकता है कि इस किताब में आये देबेन्द्रनाथ टैगोर के जिक्र को रबीबाबू के जीवन पर टिप्पणी करते वक्त किसी भी कोने से महत्वपूर्ण क्यों माना जाय? व्यक्ति को स्वायत्त इकाई मानकर चलने वाला यह प्रश्न क्षण भर को जायज भले लगे लेकिन सुधीर कक्कड़ का जवाब होगा कि किसी भारतीय संतान की कथा उसके परिवार की कथा को समझे बगैर नहीं कही जा सकती और इस लिहाज से हर पुत्र की कथा उसके पिता-माता (और पुरखों) की कथा से गूँथ-बिंधकर ही तैयार की जा सकती है। सुधीर कक्कड़ की इस मान्यता की वजह है उनका अब तक का लेखन। एक संस्कृति मनोविज्ञानी के रूप में सुधीर कक्कड़ भारतीय

मानस और भारतीयता के प्रत्यय के सर्वाधिक गंभीर व्यायकारों में से एक हैं। जिन प्रश्नों को समाज विज्ञानी बहुधा जटिल और सटीक व्याय से परे मानकर छोड़ देते हैं, सुधीर कक्कड़ का लेखन एक तरह से वैसे प्रश्नों को सुलझाने और समझने का एक उपक्रम रहा है। भारतीय संस्कृति क्या है और भारतीय मानस की बनावट कैसी है, समाज-विज्ञानियों के आगे ऐसे ही जटिल प्रश्न रहे हैं। सुधीर कक्कड़ ने संस्कृति मनोविज्ञानी के रूप में इन प्रश्नों को भरपूर आत्मविश्वास के साथ सुलझाया है।

दरअसल, उनका अधिकतर लेखन भारतीय आत्म के गठन को समझने और उसकी आलोचनात्मक समीक्षा के रूप में ही सामने आया है। सुधीर कक्कड़ भारतीयता की व्याय करते हुए उसे 'विभिन्नता के बीच मौजूद एकता' के रूप में देखने-सोचने के हामी हैं और इसी कारण कहते हैं कि 'हिन्दुस्तानी लोगों में ऊपरी तौर पर हमें बहुत साफ-साफ विभिन्नताएं दिखती हैं लेकिन इन विभिन्नताओं के भीतर एक ना नजर आनेवाली एकता भी मौजूद होती है। इस एकता का धरातल सांस्कृतिक और मनोवैज्ञानिक है और इस एकता को समरूपता की तरह ना समझा जाए बल्कि उसे भारतीय आबादी के विभिन्न समूहों के बीच मौजूद एक ऐसे सादृश्य की तरह देखा जाय जैसा कि एक ही परिवार के लोगों के बीच नजर आता है।' भारतीयता की अपनी इसी खास धारणा के कारण वे भारतीय मानस की बनावट के बारे में बात करते हुए उसमें पारिवारिकता के दायरे में मौजूद नेह-नातों की प्रधानता को स्वीकार करते हैं। भारतीय मानस की बनावट में सुधीर कक्कड़ कई बातों का एक घुलाव देखते हैं। इसमें संयुक्त परिवार की संस्था से संदर्भित होने वाली एक विचारधारा निजी रिश्तों को आकार देती है, साथ ही जाति की संस्था सामाजिक संबंधों के बारे में नजरिया तैयार करती है, दंतकथाओं, मिथकों और महाकाव्यों के भीतर पसरा कथा-संसार निजी और सामाजिक संबंधों के बारे में उपजे नजरिए को एक साझी सांस्कृतिक कल्पना का आधार देता है और इन कारणों से

कोई भी भारतीय आत्मचिन्तन के धरातल पर हमेशा 'संदर्भ-विशेष के अनुकूल तथा बहुधा सापेक्षतावादी रवैया अपनाते हुए' अपने फैसले तय करता है।

यों तो 'यंग टैगोर' का घोषित लक्ष्य रबीबाबू की विराट और बहुआयामी प्रतिभा की निर्णायक रही चीजों को तलाशने का है (ताकि वह रबीबाबू के किसी अध्येता के लिए रहस्य ना रह जाय) लेकिन अपने इस घोषित लक्ष्य को साधने के लिए सुधीर कक्कड़ ने 'यंग टैगोर' में रबीबाबू की युवावस्था की एक कथा रची है। इस कथा में परिवार और पुरखे रबीबाबू के आत्म को समझने की एक आधार-रेखा की तरह आये हैं। कक्कड़ इस बात से आगाह हैं कि रबीन्द्रनाथ टैगोर का आत्मकथात्मक लेखन पत्रों, डायरियों और किताब की शकल में मौजूद है और इस सामग्री के पाठ के आधार पर रबीबाबू की ढेरों जीवनियां तैयार हो चुकी हैं। चूंकि 'यंग टैगोर' का प्रस्ताव रबीबाबू की एक और जीवनी तैयार करना नहीं बल्कि उन्हें प्रतिभा के महाविस्फोट की एक परिघटना के रूप में समझने का है, इसलिए 'यंग टैगोर' का लेखक रबीबाबू की आत्मकथाओं और जीवनियों के तथ्यों का एक पुनर्पाठ प्रस्तुत करता है। भारतीयता और भारतीय मानस की अपनी मान्यता के अनुरूप ही इस पुनर्पाठ के क्रम में लेखक ने रबीबाबू के बाल-मन, किशोर-मन और युवा-मन को प्रभावित करने में महत्वपूर्ण रहे रिश्ते-नाते, घटनाएं और इनको लेकर रबीबाबू के बरताव-निभाव को समझने की कोशिश करता है। लेखक इस निष्कर्ष पर पहुंचता है कि रबीबाबू की कारयित्री प्रतिभा का उत्स और आगे के जीवन में विभिन्न घटनाओं को लेकर उनकी प्रतिक्रियाओं का स्वभाव उनके शुरुआती जीवन के अनुभवों में छुपा है। किताब के शुरुआती पत्रों पर ही यह जाहिर हो जाता है कि लेखक रबीबाबू की आत्मकथा और जीवनी के तथ्यों के सहारे उनकी भावनात्मक सच्चाइयों को खोजना चाहता है, रबीबाबू के जीवन की ऐसी गहरी प्रेरणाओं को जो उनके जीवन की घटनाओं को इतिहास के तथ्य के रूप दर्ज करने

नेमिचंद जैन का मिलना मुक्तिबोध के जीवन का 'टर्निंग प्वाइंट'चुके थे, बाल्जाक

वाली किताबों में नहीं मिल सकती। लेखक रबीबाबू के मनोविज्ञान को समझने के याल से उनके जीवन के ऐतिहासिक तथ्यों की खोजबीन करता है और इस कारण जीवन से लेकर मृत्यु तक की घटनाओं का कोई सिलसिलेवार ब्यौरा प्रस्तुत नहीं करता बल्कि अपने चुने हुए चरित्र की जीवनी की उन्ही चुनिन्दा घटनाओं पर केंद्रित करता है जो पात्र के जीवन के शुरुआती जीवन में घटे और जिनमें अर्थ का निर्माण पारिवारिक रिश्ते-नाते के दायरे में हुआ। लेखक को अपने इस इस काम में टैगोर की आत्मकथाएं बड़ी महत्वपूर्ण लगती हैं। वह मानता है कि 'अपने बौद्धिक या सार्वजनिक

जीवन में ऊंचाइयों पर पहुंचने वाले अधिकतर स्त्री-पुरुषों की आत्मकथाओं से अलग टैगोर ने अपनी जीवन-स्मृतियों को साहित्यिक जामे में पेश किया है। पीड़ा के अपने अनुभवों पर एक मुल मा चढ़ाकर पेश करने के कारण स्वयं टैगोर की अपनी स्मृतियों से एक सौन्दर्यपरक दूरी कायम हुई है। यह दूरी ही किसी पाठक को वह राह सुझाती है जिसपर चलकर वह आत्मकथाओं में आयी पीड़ा की अभिव्यक्तियों को उनके जीवन में घटी घटनाओं के क्षण से जोड़कर देखे।'

लेखक पाता है कि 'जीवनस्मृति', 'छेलेबेला', 'आत्मपरिचय' 'छिन्नपत्र' सरीखी आत्मकथाओं और ढेर सारे व्या यान तथा पत्रों में व्यक्त टैगोर के निजी जीवन के ब्यौरे में टैगोर के अनुभवों का बहुलांश या तो अलक्षित रह गया है या फिर स्वयं टैगोर ही अपने 'आत्म' का परिचय देते हुए अपनी भावनाओं को यथातथ्य नहीं दर्ज कर पाये हैं। 'यंग टैगोर' एक तरह से रबीबाबू के उस हृदय को पहचानने की कोशिश है जो स्वयं रबीबाबू और उनके जीवनीकारों से अदेखा रह गया। कक्कड़ ने इस अदेखे को अपनी किताब में बड़ी बारीकी से देखा-दिखाया है। मिसाल के लिए लेखक का एक प्रश्न यह है कि आखिर रबीबाबू की यादों में अपनी मां की सबसे गहरी स्मृति माता शारदा देवी की मृत्यु के रूप में क्यों दर्ज है? लेखक टैगोर के मन की थाह लेने के भाव से उत्तर देता है कि रबीबाबू के आत्मकथात्मक ब्यौरे में मां की मृत्यु का जिक्र कुछ इस तरह आया है मानो वे उस वक्त बहुत छोटे रहे हों लेकिन शारदा देवी की मृत्यु के वक्त टैगोर की उम्र 14 साल की थी। टैगोर की स्मृति मां की मृत्यु के घटना-क्रम में अवधि का एक उलट-फेर करती जान पड़ती है। इस तथ्य के आधार पर लेखक अपने पाठकों को बताता है कि दरअसल टैगोर के मन पर पड़े प्रभावों के हिसाब से सोचें तो उनकी मां की मृत्यु तभी हो गई थी जब वे मात्र पांच साल के थे। पांच साल की उम्र में टैगोर को उनकी मां के सान्निध्य से अलगाते हुए घर के उस हिस्से में रहने के लिए कह दिया गया था जो नौकरों

के रहने के लिए नियत था। रबीबाबू के व्यक्तित्व के भीतर अकेलेपन के भाव की नींव इसी घटना से पड़ी। अकेलेपन के इस भाव के साथ मां के सान्निध्य को पाने की एक अतृप्त चाहत भी जुड़ी थी और इन दोनों भावों ने मिलकर उनके मन को दुचित्ता बनाया। टैगोर बाद के समय में भीड़ के बीच अपने को अकेले रख सकते थे और साथ ही इस अकेलेपन से उन्हें डर भी लगता था।

भीड़ में अकेले हो सकने की ही क्षमता के कारण उन्हें एक विशिष्ट कल्पना का वरदान मिला, ऐसी कल्पना जो चीजों के दृश्यमान गुणों के ऊपर एक जादुई आवरण का आरोप करके उन्हें किसी और ही रंग में देखती है। इसी गुण ने उन्हें आध्यात्मिकता की तरफ उन्मुख किया, एक ऐसी आध्यात्मिकता की तरफ जो अपने भीतर ऐंद्रिकता छुपाये हुए रहती थी। नौकरों की संगत में रहने को विवश पाँच साल के रबीन्द्र के भीतर निस्संगता निजी नियति की तरह पैठ गई।

साथ ही इस निस्संगता के भीतर अपने से एक इनकार भी बैठा था। यह इनकार निस्संगता की काट के लिए रबीबाबू की कल्पना को एक उड़ान देता था। मां का सान्निध्य पाने की चाहत फिर मां के परिवेश में मौजूद लालित्य के भावों के सहारे रबीबाबू के मन में एक नया ही संसार खड़ा करता था। रबीबाबू की मानसिक बनावट के भीतर भारतीयता और वैश्विकता, आध्यात्मिकता और इहलौकिकता या फिर राजनीति और कविता का जो द्वैत मिलता है, लेखक उस द्वैत के अंकुरने की जमीन के रूप में रबीबाबू की इसी अनुभव को चिह्नित करता है।

‘यंग टैगोर’ में ऐसा ही एक मार्मिक प्रसंग भाभी कादंबरी देवी के साथ रबीबाबू के रिश्ते का मिलता है। कक्कड़ ने कादंबरी देवी को रबीबाबू का पहला प्यार और उनकी कविताओं की प्रेरणा माना है। स्वयं लेखक के ही शब्दों में कादंबरी देवी ‘रबीबाबू की किशोरावस्था और युवावस्था के अन्तर्गत की नाट्यशाला का मु य किरदार’ बनी और इस किरदार ने ही ‘एक

कवि तथा लेखक के रूप में रबीबाबू की पहचान’ को संघनित किया। कादंबरी जब बड़े भाई ज्योतिन्द्रनाथ की पत्नी बनकर टैगोर परिवार में आईं तब रबीबाबू की उम्र आठ साल की थी और कादंबरी 10 साल की थीं। कादंबरी देवी के साथ बालावस्था से शुरू हुआ रबीबाबू का नेह-संबंध युवावस्था तक भावनाओं के कई

‘अंधरे में’ का अंधेरा प्रकृति की ि

रंग-प्रवाहों से गुजरा। इस नेह-संबंध को टैगोर के जीवनीकारों ने कई रूपों में याद किया है। किसी ने कादंबरी को युवा रबीन्द्र के मन पर ‘सबसे ज्यादा असर डालने वाली स्त्री’ के रूप में देखा है तो किसी ने, ‘बालसखा, सहचर और रहबर’ के रूप में। किसी ने कादंबरी को रबीबाबू की जीवन की ‘सबसे गहरी इच्छा का मूर्तिमान रूप’ माना है जबकि सुधीर कक्कड़ को लगता है कि रबीबाबू पर कादंबरी के प्रभाव की सबसे सुन्दर और सार्थक अभिव्यक्ति स्वयं रबीबाबू की लेखनी से हुई है। रबीन्द्रनाथ टैगोर ने संकेतों के तौर पर एक जगह लिखा है कि ‘मनुष्य का हृदय एक तरल की तरह होता है, कोई भी तरल जिस पात्र में रखा जाता है उसी पात्र का आकार धारण कर लेता है, ठीक वही स्वभाव हृदय का है। विरले ही हृदय को कोई ऐसा पात्र मिलता है जिसमें ढलकर उसे यह नहीं लगता कि मेरा आकार सिकुड़ गया या कि मैं भीतर से कहीं ना कहीं खाली हूँ।’ कक्कड़ की

मानें तो कादंबरी देवी रबीबाबू के हृदय के लिए वही आदर्श पात्र थीं। रबीबाबू की शादी के ठीक चार महीने बाद कादंबरी देवी ने आत्महत्या कर ली थी और कक्कड़ लिखते हैं- कादंबरी की मृत्यु रबीबाबू के मन पर विषाद की एक गहरी छाया के उतरने सरीखा था, ऐसी छाया जिससे विश्वकवि का पूरा काव्य-जीवन घिरा रहा। टैगोर परिवार ने कादंबरी की आत्महत्या की बात प्रेस से छुपाने की कोशिश की थी और इसके लिए कुछ रुपये भी खर्च किए थे। कक्कड़ ने दर्ज किया है कि टैगोर परिवार के बही-खाते में इस एवज में 52 रुपये के खर्च का उल्लेख मिलता है।

कादंबरी की मृत्यु स्वयं टैगोर के लिए विषाद का एक अत्यंत गोपन प्रसंग था, दोष-भावना से बिंधा हुआ एक प्रसंग। रबीबाबू के लिए निजी विषाद का यह क्षण ‘आह को गान’ में तब्दील करने का क्षण भी साबित हुआ। यह बात सुज्ञात है कि टैगोर की कृति ‘नष्टनीड़’ इसी प्रसंग की साहित्यिक अभिव्यक्ति है जो बाद को सत्यजित राय के हाथों चारूलता नाम की फिल्म के रूप में सामने आई। ‘यंग टैगोर’ अपनी तरफ से पाठक को यह बताती प्रतीत होती है कि टैगोर की निजता उनकी सार्वजनिकता से गुंथी-बिंधी है और निजी अनुभव के भीतर सर्व-सामान्य के अनुभव को क्षण को बखूबी पिरोनेवाला कलाकार हैं। बहरहाल, ‘यंग टैगोर’ में रबीबाबू की साहित्य से उनके जीवन अथवा जीवन से उनके साहित्य को देखने-समझने का प्रयास पाठक के मन में यह प्रश्न भी जगाता है कि क्या साहित्य की किसी कृति को उसके रचनाकार के जीवन से इतने गहरे रूप में संपृक्त मानकर पढ़ना किसी पद्धतिगत दोष का संकेतक नहीं है? इस एक आशंका को छोड़ दें तो ‘यंग टैगोर’ विश्वकवि के मानस की बनावट को समझने और उस बनावट के भीतर ‘निजी’ और ‘सार्वजनिक’ के घुलाव को जानने के लिहाज से बहुत महत्वपूर्ण किताब है और टैगोर की जीवनियों अथवा उनकी आत्मकथाओं के तथ्यों को नये अर्थों से दीप्त करती है। ■

नए ज्ञान को समृद्ध करतीं आत्मकथाएं

■ प्रो. तुलसीराम

भारत और सारी दुनिया में आत्मकथा लेखन कोई नई विधा नहीं है। भारत के संदर्भ में तो इसका विशेष महत्व है। हमें तमाम धर्मों के मूल ग्रंथ देखने चाहिए। आत्मकथा लेखन और उसकी मैथडोलॉजी पर बात करते वक्त यह जानना जरूरी है कि दुनिया के सारे धर्म अंधकार-युग की देन हैं। उस वक्त सभ्यता और ज्ञान का इतना विकास नहीं हुआ था। धर्मों को लीजेन्ड्री तत्वों की वजह से समाज में मान्यता मिली। आज समाज के इतने विकसित होने के बाद भी सारे धर्मों में अंधविश्वास और मिथकीय संदर्भ व्याप्त हैं। इतिहास के हर युग में रिसर्च मैथडोलॉजी अलग-अलग रही है, खासकर मार्क्सवाद के उदय के बाद दुनियाभर में व्यवहारवाद, उत्तर-व्यवहारवाद, संरचनावाद और उत्तर-संरचनावाद जैसी चीजें आईं। एक जमाना था जब धार्मिक ग्रंथ शोध के मूल आधार होते थे। इसकी वजह थी कि उस दौर में इससे इतर लेखन की अनुपस्थिति। अब ज्ञान का बहुत विस्तार हो चुका है। अब हर विषय पर पुस्तकें मिल जाती हैं।

यह उल्लेखनीय है कि 1979 में हुई ईरानी क्रांति को इस्लामी क्रांति का नाम दिया गया और पूरी दुनिया में इस्लामिक उत्थान देखा गया। तालिबान उसी का एक सर्वाधिक विकसित रूप था। इस प्रक्रिया में धर्म को एक बार फिर सारी गतिविधियों के केंद्र में लाने की कोशिश हुई। यानी धर्म केवल धार्मिक मामलों को प्रभावित नहीं करेगा, बल्कि वह राजनीतिक मामलों को भी संचालित करेगा। पूरा राजनीतिक तंत्र उसके अधीन होगा। ईरानी क्रांति से हुई इस शुरुआत की प्रतिक्रिया में अन्य धर्मों के लोगों ने इसकी नकल करना शुरू किया। खाप पंचायतें उसी का विस्तार हैं। हरियाणा में युवक-युवतियों को प्रेम करने के लिए मारा जाने लगा जो इस पैमाने पर पहले कभी नहीं हुआ। मेरा मानना है कि धार्मिक ग्रंथों में सबसे पहले आत्मकथा लेखन की शुरुआत हुई। धर्म का

महिमामंडन करने की प्रक्रिया में उसमें आत्मकथा लेखन प्रमुखता से आता है। यानी धर्म की प्रशंसा करते वक्त संबंधित धर्म ग्रंथ में उसमें आए पात्रों का महिमामंडन किया जाता है, उनके व्यक्तित्व का गौरवपूर्ण बखाना होता है। हिंदुस्तान में महाभारत, रामायण या रामचरितमानस, गीता और तमाम पुराण- किसी को भी देख लीजिए। हर एक धार्मिक ग्रंथ में उसके नायक का पूरा आत्मकथात्मक रेखाचित्र मिलता है, जिस पर शोधार्थियों का बहुत कम ध्यान गया है।

पिछले दिनों में आत्मकथा लेखन को लोकप्रियता दलित और महिलाओं की आत्मकथाओं के आने के बाद मिली है। सबाल्टर्न अध्ययन में इन्हीं को सामाजिक रूप से बहिष्कृत कहा जाता है। सामाजिक बहिष्करण से जुड़े अध्ययनों को समाज-विज्ञानियों और मानव-विज्ञानियों ने उत्तर-औपनिवेशिक अध्ययन कहा है। धार्मिक ग्रंथों के आत्मकथा लेखन की विशेषता यह है कि वे ग्रंथ के नायक या राम, कृष्णादि एक ईश्वर का तो जीवनचरित है ही, साथ ही अर्जुन, भीम, हनुमान, सुग्रीव आदि का भी जीवनीपरक आख्यायन है। धार्मिक ग्रंथों में अगर केवल दार्शनिक चिंतन होता और चरित्र चित्रण नहीं होता तो वे कभी लोकप्रिय हो ही नहीं सकते थे। आत्मकथा लेखन की एक बड़ी विशेषता यह है कि उसकी ग्राह्यता या स्वीकृति बहुत मजबूत होती है। इसीलिए एक अनपढ़ आदमी भी राम, हनुमान और तमाम पात्रों के चरित्र और उनके जीवन से जुड़ी हुई कहानियों से परिचित हो जाता है।

मध्यकालीन दौर में भी लेखन की एक धारा दरबारी धारा थी। दरबारी कवि भी होते थे और दरबारी लेखक भी। जैसे अकबर के दरबार में अबुल फजल 'फैजी' इतिहासलेखन का कार्य करते थे। ये परंपरा भारत में ही नहीं अन्य देशों में भी थी। बख्तियार खिलजी 13वीं शताब्दी में भारत आया।

“अंधेरे में” कविता
का ए।

‘हे अग्नि हम तुम्हारी पूजा इसलिए करते हैं कि तुम हमारे दुश्मनों के घरों को जला देती हो’। कहने को यह अग्नि की पूजा के बारे में छोटी सी ऋचा है लेकिन इसमें अग्नि की पूजा का जो कारण दिया गया है, वह बड़ा महत्वपूर्ण है। आर्य जब यहां आए तो स्थानीय लोगों से उनका झगड़ा होता था तो आर्य उनके घरों को जला देते थे। इस तरह से इन ग्रंथों से पूरे इतिहास का पता चल जाता है। पर्यावरणीय अध्ययन की दृष्टि से देखा जाए तो बौद्ध साहित्य में जानवरों के बारे में भी काफी कुछ मिलता है।

वर्तमान आत्मकथा लेखन, मूलतः आजादी के बाद का, जिसे उत्तर-औपनिवेशिक भी कहते हैं, उसका सबाल्टर्न स्टडीज या सोशल एक्सक्लूजन के तहत अध्ययन होता है। भारतीय संदर्भ में इसमें मुख्य तौर पर दलित, आदिवासी और महिलाओं संबंधी अध्ययन शामिल किए जाते हैं। यही समुदाय सामाजिक रूप से बहिष्कृत भी थे। भारत में जाति के आधार पर सामाजिक बहिष्कार तो केवल दलितों का था लेकिन सामाजिक आधार पर हर जाति की महिलाएं बहिष्कार की शिकार रही हैं, उनसे भेदभाव होता रहा है, उनका शोषण होता रहा है। सबाल्टर्न स्टडीज के तहत पूरी दुनिया में महिलाओं का लेखन मुखर हुआ।

महिलाओं और दलितों ने खूब आत्मकथात्मक लेखन किया। 60 और 70 के दशक सारी दुनिया में नए अध्ययनों की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण हैं। 60 के दशक में महिला आंदोलन का उभार हुआ। इसका जन्म यूरोप में हुआ। 60 में फ्रांस में हुए छात्र आंदोलनों से इसकी शुरुआत हुई, जिसमें महिलाओं ने अपने शोषण के लिए पितृसत्ता को जिम्मेदार माना। धीरे-धीरे वह पुरुष-विरोधी आंदोलन में बदल गया। पितृसत्ता के प्रतिरोधस्वरूप औरतों ने अपने अंतःवस्त्रों की होली जलाना शुरू कर दी। उसका एक सांकेतिक अर्थ था। थोड़े समय

फॉसिस न्यूटन सूज़ा की एक कलाकृति

उसके साथ उस्मानी नामक एक लेखक आया था। सिकंदर के साथ भी इसी तरह लेखकादि आए थे। ये लेखक इन राजाओं की चढ़ाइयों का वर्णन आत्मकथात्मक शैली में करते थे। आत्मकथा लेखन इतिहास का बहुत महत्वपूर्ण स्रोत है। यानी आत्मकथा लेखन केवल साहित्य नहीं, इतिहास, समाजशास्त्रों, मानवविज्ञान आदि की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण विधा है। ये बौद्धों ने शुरू किया। पहली सदी के कवि और भिक्षु अवशघोष ने ‘बुद्धचरितम’ लिखा। स्वयं बुद्ध के उपदेश जितने लोकप्रिय थे, ‘बुद्धचरितम’ उससे कम लोकप्रिय नहीं था। ‘बुद्धचरितम’ के माध्यम से लोग बुद्ध को और बौद्ध धर्म-दर्शन को जानने लगे। यूरोप में बौद्ध धर्म-दर्शन के बारे में लोग काफी बाद में जाने। 1858 में फ्रेंच में अवशघोष के ‘बुद्धचरितम’ के बारे में एक लेख लिखा गया। इसके बाद वहां बुद्ध और उनके विचारों का प्रचार हुआ। उसी के प्रभाव में

ब्रिटिश कवि एडविन अर्नाल्ड ने बुद्ध पर ‘लाइट ऑफ एशिया’ नामक महाकाव्य लिखा। इस महाकाव्य के माध्यम से यूरोपीय विद्वानों ने बुद्ध को जानना शुरू किया। दक्षिण-पूर्व एशिया में तो बौद्ध धर्म-दर्शन बहुत पहले अशोक के जमाने में ही फैल गया था लेकिन यूरोपियन इससे पहले उससे अनभिज्ञ थे।

बौद्ध धर्म-दर्शन की इसी आत्मकथात्मक परंपरा में थेरीगाथाओं और थेरगाथाओं को ले सकते हैं जिसमें थेर यानी भिक्षु और थेरी यानी भिक्षुणियों का पूरा जीवन दर्ज है। जातक कथाओं में भी इसी तरह से जीवनचरित आए हैं। यानी हमारे देश में आत्मकथात्मक लेखन की बहुत समृद्ध परंपरा है। वैदिक युग में ऋग्वेदादि ग्रंथों में भी यह प्रवृत्ति देखी जा सकती है। इन कथाओं में बहुत संकेत छिपे हैं। जैसे ऋग्वेद की एक ऋचा में अग्नि की पूजा के संदर्भ में एक पुरोहित कहता है कि

में उसी आंदोलन की औरतों ने समझा कि सिर्फ पुरुष का विरोध करने से महिला आजाद नहीं हो सकती। दोनों को एक-दूसरे की आवश्यकता है। इस अप्रोच के बाद महिला आंदोलन में एक संतुलन आया और उसने एक सामाजिक और राजनीतिक आंदोलन का रूप ले लिया जिसने महिलाओं को विभिन्न अधिकार दिलाए। महिला के इस विश्वव्यापी आंदोलन के बाद महिला अध्ययन की एक लहर चली। भारत में भी महिला अध्ययन नाम से यूजीसी ने विभिन्न विश्वविद्यालयों में महिला अध्ययन केंद्र खोले हैं। इस प्रक्रिया में महिलाओं का लेखन भी सामने आया है। महाराष्ट्र में हंसा बाडकर नामक एक यौनकर्मी थी। उन्होंने एक छोटी सी आत्मकथा लिखी है जो बहुत क्रांतिकारी है।

उन्होंने लिखा है कि पूना के ब्राह्मण उनके कोठे पर जाते थे लेकिन अपनी देह साफ करने के लिए घड़े में अपना पानी ले जाते थे। जेएनयू के समाजविज्ञानी मणीन्द्रेनाथ ठाकुर ने सीएसडीएस के जर्नल में एक लंबा लेख लिखा है। उसमें उन्होंने विभिन्न समाजशास्त्रीय सिद्धांतों के आधार पर 'मुर्दहिया' का विश्लेषण किया है। मुझे उनके लेख से ही पता चला कि आत्मकथाओं का समाजशास्त्रीय सिद्धांतों की दृष्टि से कितना अधिक महत्व है। एक जाना पहचाना सच है वर्ण व्यवस्था। तमाम जातियों के लोग एक ही गांव में रहते हुए इस सच से बचने की कोशिश करते रहे हैं। लेकिन जब आत्मकथाएं आने लगीं तो सबकी आंखें खुली की खुली रह गईं कि ऐसा भी होता है!

सामंतवाद और औपनिवेशिकता के दौर में राजा-रानी के बारे में ही लिखा पढ़ा जाता था। भारत में तो इसकी समृद्ध परंपरा है। आज जितने चाव से एक राजा की कथा नहीं पढ़ी जाती, उससे ज्यादा चाव से दलित और स्त्रियों की आत्मकथाएं पढ़ी जा रही हैं और उन पर शोध हो रहे हैं। अकेले

नेमिचंद जैन का मिलना मुक्तिबोध के गये थे।'

'मुर्दहिया' पर इस समय 50 से ज्यादा विद्यार्थी शोध कर रहे हैं। दरअसल, उत्तर औपनिवेशिक चिंतन नए ज्ञान को जन्म दे रहा है। ये आत्मकथाएं नए ज्ञान को समृद्ध कर रही हैं।

दलित संदर्भ में सबसे महत्वपूर्ण आत्मकथा दया पवार की 'बलूत' (अछूत) थी। यह आधुनिक भारत में एक टर्निंग पॉइंट था। इसके बाद विभिन्न भारतीय भाषाओं में 75 से 100 के बीच दलित आत्मकथाएं आ चुकी हैं। हिंदी में भी लगभग एक दर्जन आत्मकथाएं आ चुकी हैं। मराठी की आत्मकथाएं गवाह हैं कि इन तमाम लेखकों को स्वयं अपने समुदाय में बहुत विरोध झेलना पड़ा। इसका कारण था कि दलित समुदाय के भीतर की चीजों पर

इन्होंने लिखा। छिपी चीजों को बाहर लाने के कारण इन्हें अपने समुदाय का विरोध झेलना पड़ा। दलित और महिलाओं की आत्मकथाएं इस सच को उजागर करने की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण हैं। समाजविज्ञानियों ने इसीलिए इसे वैकल्पिक सामाजिक इतिहास कहा है। इनका विरोध भी हो रहा है। कुछ लोग कह रहे हैं कि दलित आत्मकथाओं को पाठ्यक्रम में शामिल करने से सामाजिक समरसता को खतरा है। यह दिलचस्प है कि हजारों सालों से चले आ रहे जातिवाद से उन्हें दिक्कत नहीं है और दलित आत्मकथाओं से दिक्कत है। यह इस बात का भी प्रमाण है कि समाज में सामाजिक भेदभाव कितना प्रभावी रहा है कि लोग लेखन को भी स्वीकार नहीं कर पा रहे हैं। रमणिका गुप्ता ने अपनी आत्मकथा में लिख दिया कि मुझे याद ही नहीं है कि मेरे कितने प्रेमी थे। यह जीवन का एक सच है लेकिन इसकी बहुत आलोचना हुई। हिंदी धर्मग्रंथों को आप देख लीजिए। खासतौर पर पुराणों को। यौन-वृत्तांतों से भरे पड़े हैं। उसे धर्म मानकर लोग पूजा करते हैं। लेकिन जब आज के जमाने में वही चीजें कही जा रही हैं तो लोग उसे नैतिकता का सवाल बना दे रहे हैं। आत्मकथाएं नैतिकता समेत सभी प्रतिबंधों को तोड़ रही हैं। साथ ही वे समाज के सामने वैकल्पिक ज्ञान लेकर आ रही हैं। अब दलित महिलाओं की आत्मकथाएं भी आ रही हैं। यह इसी का अगला चरण है। इस प्रसंग में कौशल्या बैसंत्री की 'दोहरा अभिशाप' और सुशीला टाकभोरे की 'शिकंजे का दर्द' को देखा जा सकता है। निष्कर्षतः यह सामाजिक रूप से बहिष्कृत लोगों का लेखन ही भारतीय संदर्भ में सबाल्टर्न लेखन के अंतर्गत आता है और इसने ज्ञान परंपरा को मजबूती दी है।

(प्रो. तुलसीराम द्वारा एकेडमिक स्टाफ कॉलेज, जामिया मिल्लिया इस्लामिया, नई दिल्ली में दिया गया व्याख्यान। प्रस्तुति - डॉ. गंगा सहाय मीणा) ■

बक गया हूं जुनू में क्या-क्या कुछ

■ सत्यकाम

प्राध्यापक एवं आलोचक

संपर्क: हिंदी विभाग,
ब्लॉक-एफ, इग्नू, मैदानगढ़ी,
नई दिल्ली-110068

गालिब के शेर की यह आरंभिक पंक्ति है, पूरा शेर है:

बक गया हूं जुनू में क्या-क्या कुछ
कुछ न समझे खुदा करे कोई।

इस शेर के माध्यम से तुलसीराम ने अपनी विनम्रता प्रकट की है। यह शेर श्रद्धेय तुलसीराम जी को बहुत पसंद था। गालिब उनके पसंदीदा कवि थे; उन्हें वे रोमांस के साथ-साथ प्रतिरोध का कवि मानते थे जो परंपरा और मान्यताओं के विरुद्ध खड़े थे। गालिब साहसी कवि थे; तुलसीराम जी भी साहसी व्यक्ति थे और उन्हें हर वह व्यक्ति पसंद था जो जड़ परंपरा और रूढ़ि के खिलाफ मशाल लेकर खड़ा हो। इसलिए बुद्ध, मार्क्स और आंबेडकर उनके आदर्श और पथप्रदर्शक रहे। बुद्ध से उन्होंने जिजीविषा प्राप्त की, मार्क्स से दुनिया को समझने की दृष्टि और आंबेडकर से भारत में जाति के सच को देखने का नजरिया हासिल किया।

आज तुलसीराम जी हमारे बीच नहीं हैं। 1 जुलाई 1949 को जन्मे तुलसीराम जी विगत 13 फरवरी 2015 को हमारे बीच नहीं रहे।

‘मणिकर्णिका’ मेरे पास छपते ही आ गई थी। पढ़ भी ली थी पर मैं इस कृति से इतना अभिभूत था कि लगा कि यदि अभी कुछ लिखा तो भावावेश में लिखूंगा और संभवतः कृति के साथ न्याय नहीं कर पाऊंगा। फोन की घंटी बजी और फोन पर उगा ‘विमल झा’... इस दस्तक के बाद पुस्तक फिर पढ़ी ... पहले एक पाठक की तरह पढ़ी थी, अब समीक्षक की तरह पढ़ी तो यह है ‘मणिकर्णिका’...

इस पूरी कृति को पढ़कर मैं जिस निष्कर्ष पर पहुंचा वो ये कि एक क्रांतिकारी हमेशा रोमैंटिक होता है और क्रांति भी उसके रोमांस का हिस्सा होती है। वह जीवन को भी उसी दार्शनिक दृष्टि से देखता है; तुलसीराम के व्यक्तित्व को उदात्तता देता है यह रोमांस जिसे वे खासकर उद्धृत करते हैं :

साकी की मोहब्बत में दिल साफ हुआ इतना,
सिर को झुकाता हूं तो शीशा नजर आता है।

तुलसीराम का रोमांस क्रांति से था। क्रांति उनका सपना थी, सखा थी, हमदम थी; पर पुस्तक के अंत में उनके नजदीक आई तीन वनिताओं के प्रति अपनी भावना की जिस लगाव, चाव और भाव से दास्तां सुनाई है वह तुलसीराम के व्यक्तित्व के आंगन की खिड़की है जहां उन्हें आर-पार देखा जा सकता है, निर्वस्त्र, आवरण रहित। कुछ रखा नहीं अपने भीतर; सब कुछ अर्पण कर दिया उस माटी को, उस देश को, उस समाज को जिसे वे बदलना चाहते थे और अंततः इसके लिए अथक प्रयास करते रहे। मृत्यु भी उन्हें डिगा नहीं पाई। यही है ‘मणिकर्णिका’ जहां से जीवन जीने की ऊर्जा पाई तुलसीराम ने।

‘मणिकर्णिका की सीढ़ियों पर खड़े-खड़े मुझे बार-बार ऐसा लग रहा था कि मानो मैं एक अदृश्य मुर्दे का अकेला शवयात्री था। करीब आधे घंटे बाद जब मैं वहां से वापस चला, तो कबीर की यह पंक्ति, ‘चली है कुलबोरनी गंगा नहाय- मेरी जबान पर थी।’

तुलसीराम जीवन भर ‘एकला चलो रे’ के मार्ग पर चलते रहे। राह में जो भी मन का साथी मिला साथ हो लिए, कारवां बनता गया और जीवन भारत में साम्यवाद स्थापित करने के लिए समर्पित हो गया। लोग कहते हैं मार्क्स और बुद्ध में कहां मेल! लोग कहते हैं यह तुलसीराम के व्यक्तित्व का अंतर्विरोध है। लोग कहते हैं उनके मार्क्सवाद को उनके बुद्ध ने कमजोर बनाया। तुलसीराम इसी लिहाज से अलग थे कि उन्होंने मार्क्स और बुद्ध को एक साथ साधा और वे आस्तिक से नास्तिक होते चले गए। उन्होंने लिखा भी है कि मार्क्सवाद और बुद्ध ने ‘ईश्वर’ को समाप्त कर दिया। कई बार जीवन में तुलसीराम हताश हुए और आत्महत्या तक की बात सोचने लगे तब ‘बुद्ध सामने आ जाते और मैं आत्महत्या को पाप समझने लगता था।’

एक जगह और लिखते हैं ... ‘आगे की शिक्षा बंद हो जाने की संभावना को सोचकर कई बार मेरे दिमाग में भी आत्महत्या की कल्पना आई थी, किंतु बुद्ध ने मुझे बचा लिया।’

पुस्तक: मणिकर्णिका
लेखक: डॉ. तुलसीराम
प्रकाशक: राजकमल प्रकाशन,
दरियागंज, नई दिल्ली
प्रकाशन वर्ष: 2014
मूल्य: ₹ 300

तुलसीराम के व्यक्तित्व में कटुता नहीं समता का भाव है, और बुद्ध की करुणा का निदर्शन है। इसका कारण उनकी जिंदगी में ऐसे ब्राह्मण और ब्राह्मण परिवार आए जिन्होंने बिना किसी भेदभाव के तुलसीराम जी से सखा भाव, मित्रवत, स्नेहपूर्वक व्यवहार किया।

प्रो. राव ने उनका अपमान किया तो उन्हें उससे ऊर्जा मिली और प्रो. हरिहरनाथ त्रिपाठी और संकटमोचन मंदिर के महंत 'वीरभद्र मिश्र' जैसे ब्राह्मणों के व्यवहार ने उनकी जीवन दृष्टि को व्यापक बनाया। गोरख पांडे के साथ का भी उन पर प्रभाव पड़ा। बनारस के एक ब्राह्मण परिवार से उनका आजीवन पारिवारिक संबंध बना रहा। वे बुद्ध के शिष्य थे इसलिए मनुष्य से नहीं बल्कि उसके 'कर्म' का समर्थन या विरोध करते थे।

तुलसीराम में व्यक्तिगत कटुता लेशमात्र नहीं है क्योंकि वे बुद्ध के शरण में हैं और दुविधा में बुद्ध ही उन्हें रास्ता दिखाते हैं।

तुलसीराम के दृष्टिकोण और पूरे व्यक्तित्व में कटुता का लेशमात्र है; तीक्ष्ण आलोचनात्मक दृष्टि है। उनके पास, उनके यहां गाली-गलौज या आरोप प्रत्यारोप या घृणा की राजनीति नहीं है बल्कि समाज को वंचितों की निगाह से देखने की एक क्षमता है जिसका निर्माण मार्क्स और बुद्ध के अद्भुत समन्वय से हुआ। मार्क्स का तीक्ष्ण विश्लेषण और बुद्ध की करुणा और अहिंसा ने उन्हें महान इनसान बना दिया जो समाज को वैज्ञानिक दृष्टि देने में सफल होता है। इसीलिए तुलसीराम दलित साहित्यकारों में अलग कतार के अग्रपांक्तेय हैं। इस व्यक्तित्व निर्माण में राहुल सांकृत्यायन की पुस्तक 'भागो नहीं (दुनिया को) बदलो' का विशेष योगदान रहा। यह किताब उन्हें अपने एक अतिथि की चावल की गठरी में मिली थी- 'सचमुच में इस किताब ने मेरी दुनिया हमेशा के लिए बदल दी और और मैं कम्युनिस्ट हो गया।'

इसके बाद वे नास्तिक हो गए। नास्तिक होने के लिए साहस की, आत्मबल की आवश्यकता होती है; यह उन्हें राहुल सांकृत्यायन (साम्यवाद के जरिए) और बुद्ध से प्राप्त हुआ। 'अंततोगत्वा राहुल के साथ-साथ बुद्ध ने मेरी नास्तिकता पर अमिट ठप्पा लगा दिया। मेरे मस्तिष्क तथा हृदय के सारे दरवाजे ईश्वर तथा अंधविश्वासों के लिए हमेशा के लिए बंद हो गए। मैं पूर्णरूपेण नास्तिक हो गया। नास्तिकता ने मुझे हद से

ज्यादा मानवीय बना दिया। मैं विशुद्ध रूप से मानवता का पुजारी बन गया। जो लोग मानवता की बात करते हुए ईश्वरीय अंधविश्वासों की वकालत करते हैं, मैं उन्हें सबसे बड़ा पाखंडी और ढोंगी समझने लगा।' इसी ने उन्हें जातिवाद से भी लड़ने का साहस दिया। अब तक तुलसीराम अपनी जाति छिपाकर रहते आए थे। कम्युनिज्म ने उन्हें साहसी बना दिया और उन्होंने यादव और उसके मालिक को खदेड़ दिया। यह तुलसीराम के जीवन में आया महत्वपूर्ण परिवर्तन था। 'मार्क्सवाद ने मुझे पहली बार इतना साहसी बनाया था। मेरे दिमाग में बार-बार यह बात आती कि यदि मैं ईश्वर को खदेड़ सकता हूँ, तो इन जातिवादी मनुष्यों को क्यों नहीं? इस बार पक्का इरादा कर लिया था कि जातिवाद से भविष्य में डरूंगा नहीं, बल्कि मुकाबला करूंगा। बनारस में यह विचित्र स्थिति थी कि मकान तो किराए पर मिलता था, किंतु जातिवाद मुफ्त में।

तुलसीराम भावुक व्यक्ति थे और उन पर कोई भी भावनात्मक घटना बहुत असर डालती थी। चाहे कम्युनिज्म हो, चाहे बौद्ध दर्शन, चाहे सशस्त्र क्रांति, चाहे कलकत्ता की नींव रखने वाले जाब चारनाकवे सबसे तुरंत अभिभूत हो जाते थे। इसे ही कुछ लोग इनके व्यक्तित्व का अंतर्विरोध समझने की भूल कर बैठते हैं जबकि यही उनकी आंतरिक शक्ति थी, उसी से उन्हें अपना 'नजरिया' विकसित करने में मदद मिली थी और इसी से उनका अप्रतिम और अनूठा व्यक्तित्व भी निर्मित हुआ।

जब भी दुविधाग्रस्त हुए बुद्ध ने मदद की। सशस्त्र क्रांति और बुद्ध में तालमेल की अद्भुत जीवनदृष्टि का द्योतक है यह कथन ... 'उस समय मुझे ऐसा लगा कि जिस तरह गौतम बुद्ध ने दो अतिवादों यानी वासनामय जीवन तथा अति कष्टकारक तपस्वी जीवन के बीच का 'मज्झिम निकाय' यानी मध्यमार्ग ढूंढ़ निकाला था, उसी तरह से मैंने दो कम्युनिस्ट पार्टियों (सीपीआई तथा सीपीआई (एम) के बीच नक्सलबाड़ी का मार्ग ढूंढ़ निकाला किंतु यह बात मेरे मस्तिष्क में हमेशा खटकती रहती थी कि मेरा मार्ग बुद्ध के मार्ग से बिलकुल उल्टा था। कहां अहिंसा तथा शांतिवादी बुद्ध और कहां अतिवादी हिंसक विचार वाला मैं?'

यह दुविधा काफी देर तक तुलसीराम में व्याप्त रही पर इसमें बुद्ध की जीत हुई और उन्हीं की प्रेरणा से कभी उन्होंने हिंसात्मक कार्य नहीं किया, करने की सोची भी,

स्वतंत्र भारत के
सर्वव्यापी अंधेरे को
सबसे पहले पहचानने
वाले हिंदी के महत्तम
कवि गजानन माधव
मुक्ति

छल किया और पार्टी मंच से दलित मुद्दे को उठाने का विरोध करते हुए वर्ग और वर्ण संघर्ष का मुद्दा उठाया, वह दलितों को लेकर कम्युनिस्ट पार्टियों के नजरिए और दलितों के कम्युनिस्टों से छिटकने का पर्याप्त कारण उपस्थित करता है। तुलसीराम ने कम्युनिस्ट पार्टी में घुसे अवसरवादियों की अवसरवादिता (जैसे रूस जाना, अपने बच्चों को पढ़ाई के लिए मास्को भेजना आदि) और 'जेनुइन' कामरेडों के ऊपर उन्हें तरजीह देना जैसे किस्सों का बयान किया है जो अपने आप बहुत कुछ कह जाता है। वे लिखते हैं: 'शीघ्र ही मैंने देखा कि कैसे-कैसे लोग मास्को रिटर्न बन गए और वे पार्टी से दूर-दूर का भी रिश्ता नहीं रख सके।' जिस कम्युनिस्ट पार्टी के लिए उन्होंने अपना सर्वस्व दे दिया उसकी आलोचना करने में वे नहीं चूके। अपनों के भितरघात से आहत होकर ही वे बनारस छोड़ने पर मजबूर हुए और दिल्ली की ओर प्रस्थान किया।

फ्रांसिस न्यूटन सूज़ा की एक कलाकृति

हिस्सा भी लिया पर बुद्ध ने बचा लिया... 'अंततः बुद्ध की अहिंसा जीत गई और 'वर्ग दुश्मन का सफाया' वाली राजनीति से हमेशा के लिए मैंने संन्यास ले लिया। उस अरहर के खेत में इस सिद्धांत को क्रियात्मक रूप देने की प्रक्रिया के दौरान मुझे पहली बार गहराई से अनुभूति हुई कि नक्सलवादियों का यह रास्ता बिलकुल गलत है।'

यह आत्मकथा आत्ममुग्धता से मुक्त है; वस्तुतः यह आत्मालोचना ज्यादा है; 'मुझसा बुरा न कोय' की विनम्रता; कबीर की लुकाठी थामे, अपना घर जारकर बाजार में खड़े; कबीर की तरह समाज को ललकारते हुए। तुलसीराम ने अपने वैचारिक दृढ़ को कतई छिपाया नहीं बल्कि उसे स्पष्टता से सामने रखा है ताकि आने वाली पीढ़ी उस पर बहस कर सके। भारत में साम्यवाद का स्वरूप कैसा हो? उसके सामने साम्यवाद का मॉडल कैसा हो? सोवियत रूस की साम्यवादी व्यवस्था को आदर्श माना जाए या रूस की साम्यवादी व्यवस्था को प्रतिमान माना जाए? तुलसीराम की दुविधा एक व्यक्ति

मात्र की दुविधा नहीं है बल्कि उन तमाम कामरेडों की दुविधा है जो भारत में साम्यवाद की स्थापना करना चाहते हैं।

'मेरे लिए विभिन्न कम्युनिस्टों द्वारा भारतीय राज्य का विश्लेषण विचारधारा के घोर संकट का प्रतीक बन गया। सीपीआई का कहना था कि भारतीय राज्य एक नेशनल बुर्जुआ (राष्ट्रीय पूंजीपति) स्टेट है। वहीं सीपीआई (एम) का कहना था कि भारतीय राज्य बुर्जुआ लैंडलार्ड (पूंजीपति जमींदार) स्टेट है। जबकि सीपीआई (एमएल) का कहना था कि भारतीय राज्य सेमी फ्यूडल सेमी कोलोनियल (अर्ध सामंती अर्ध औपनिवेशिक) स्टेट है।' एक कामरेड के रूप में तुलसीराम के लिए यह दुविधा स्पष्ट थी।

तुलसीराम ने भारतीय साम्यवाद की कमजोरियों और उसके अंदर घुसे अवसरवादियों और बुर्जुआ प्रवृत्तियों को उघाड़ा और इसे साम्यवादी दलों की चारित्रिक कमजोरी माना। दलित जाति का होने के कारण एक उच्च जाति के कामरेड ने जिस प्रकार इनसे

तुलसीराम का व्यक्तित्व 'मणिकर्णिका' की चाक पर गढ़ा गया और बनारस खासकर बीएचयू उनकी संघर्ष स्थली रही, जिसका जिक्र इस कृति में हुआ है, जिसमें 1966 से 21 जनवरी 1976 की कथा कही गई है। बीच-बीच में कलकत्ता, दिल्ली यात्रा का भी वर्णन है जिसने उनके व्यक्तित्व की निर्मित में अलग-अलग ढंग से प्रभाव डाला, जिसका लोमहर्षक और रोमांचक चित्रण इस कथा में हुआ है; खासतौर पर पहली कलकत्ता यात्रा जब उन्हें गया से आसनसोल तक ट्रेन के डिब्बे के पायदान पर हैंडल पकड़कर लटककर यात्रा करनी पड़ी थी। इसी प्रकार 'बर्फी प्रसंग' भी मार्मिक है जिसमें तुलसीराम मकान मालकिन के पैसे चुराकर बर्फी खाते हैं और उसका असर ताजिंदगी उनके व्यक्तित्व पर पड़ता है।

'यद्यपि मैंने 40 पैसे की उस चोरी की घटना के ठीक 22 साल बाद एक श्रीलंकाई भिक्षु से बौद्ध दीक्षा 21 मार्च, 1988 को ली थी, किंतु उस अपराधबोध से कभी मुक्त नहीं हो पाया। फिर भी मुझे संतुष्टि इस बात पर है कि 'फिर कभी चोरी नहीं करूंगा' के प्रण पर

जिंदगी भर कायम रहा।’

बनारस हिंदू आस्था और अंधविश्वास का सबसे बड़ा गढ़ है और वहीं कबीर की भांति तुलसीराम ने उसके खिलाफ जेहाद करने का संकल्प लिया। वहीं वे ईश्वर के प्रभाव से मुक्त हुए, वहीं वे कम्युनिस्ट बने, वहीं अपनी पढ़ाई पूरी की, वहीं ब्राह्मणवाद से लड़े, वहीं अपने आप से लड़े।

तुलसीराम ने केवल अपनी कहानी नहीं कही है बल्कि अतीत, वर्तमान और भविष्य को टटोलने का भी जतन किया है। बीच-बीच में बनारस का इतिहास बताते हैं, बनारस की यात्रा करते हुए हिंदू समाज की विडंबनाओं और अंतर्विरोधों पर चुटकी लेते हुए, व्यंग्य करते हुए आगे बढ़ते चले जाते हैं, वाराणसी से जुड़ी किंवदंतियों, पौराणिक कथाओं और ऐतिहासिक तथ्यों को परखते हैं और इन पर तीखी टिप्पणी करते हैं। पूरी कृति तीखी टिप्पणियों से बिंधि पड़ी है। बनारस की यात्रा जीवन को जानने की एक कश्मकश है जो ‘मणिकर्णिका’ की घाट से उठते धुंओं की लौ से उद्भूत होती है जिससे तुलसीराम जीवन के प्रति एक विशिष्ट दर्शन और दृष्टिकोण विकसित करते हैं। वस्तुतः ‘मणिकर्णिका’, ‘मुर्दहिया’ से बने जीवन दर्शन का अगला संस्करण है जिसे जीवंत रूप में प्रस्तुत किया गया है। इसीलिए तुलसीराम खासतौर पर उत्तर प्रदेश के शेरपुर गांव में दलितों के प्रति हुए अत्याचार की रिपोर्ट प्रस्तुत करते हैं। इससे भारतीय समाज कैसा है, इसका जीवंत प्रमाण मिलता है। इस कृति में कई लोगों का जिक्र आया है जिसे तुलसीराम ने अपने नजरिए से देखा है, पर गोरख पांडे का सबसे ज्यादा जिक्र किया है। गोरख पांडे उनके जीवन के प्रमुख अंग बने। कई बार वैचारिक भिन्नता के बावजूद दोनों ने एक दूसरे का साथ नहीं छोड़ा। यह पुस्तक गोरख पांडे और कम्प्यूज कामरेडों के व्यक्तित्व को जानने की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है और इस संदर्भ में एक सच्चा दस्तावेज है।

‘मणिकर्णिका’ एक कलात्मक कृति है जो

‘अंधरे में’ का अंधेरा प्रकृति की विवेकहीनता का प्रतीक है। यह विवेकहीनता दो स्तरों पर है- सामपुरुष’ है।

सोच विचार कर नहीं गढ़ी गई है बल्कि इसमें प्रकृतिप्रदत्त स्वाभाविक सौंदर्य है। यह एक व्यक्ति की नहीं बल्कि पूरे समाज की कथा है, विचारों की कथा है और ऐसी कथा है जो आज हमारे लिए इतिहास है। इस कृति में 1966 से 1976 तक की राजनीतिक हलचलों का भी बयान है और जेपी आंदोलन और इमरजेंसी के भी चित्र हैं; कैमरा और निर्देशन तुलसीराम का है। सीपीआई ने इमरजेंसी को समर्थन दिया था; तुलसीराम सीपीआई के ‘होल टाइमर’ थे अतएव जेपी आंदोलन का विरोध और इमरजेंसी का स्वागत उन्होंने भी किया। बड़ी बात कि उन्होंने इस प्रसंग को छिपाया नहीं, बल्कि विस्तार से बताया है और अपने तर्क भी दिए हैं।

‘मणिकर्णिका’ में एक कहानी की रोचकता है, एक फिल्म की नाटकीयता और कई ऐसे प्रसंग हैं, जो रूलाते भी हैं, हंसाते भी हैं और सबसे बड़ी बात तुलसीराम कहीं भी अघाने नहीं देते; वर्णन कम है; जहां है वहां भाषा

कसी हुई है; भाषा में धार है; इसलिए भाषा व्यंग्यात्मक बन जाती है; लोक भाषा के शब्द और स्टाइल पूरे विन्यास को खूबसूरत बना देते हैं। भाषा वैज्ञानिक विश्लेषण और पाठ विश्लेषण की दृष्टि से इस कृति के विश्लेषण पर रोचक तथ्य सामने आएंगे। कुछ उदाहरण:

‘वे वहीं खड़े हो गए और मुझे कलकत्ता के इतिहास से सराबोर करने लगे।’...

‘... और देखा कि एक आदमी भेड़ियाहवा कंबल की घोंघी ओढ़े अपना आधा मुंह छिपाए बिना कुछ बोले मेरे कमरे में घुस आया।’

‘वे डर के मारे गनगन गनगन कांप रहे थे।’

‘मेरे लिए बीएचयू में निवास का यह दशक बंदरकुदान जैसा था।’

‘सारे लोग बांग्ला भाषा में केंचों-केंचों कर रहे थे।’

ऐसी लोकस्पर्शी भाषा कृति को दिलचस्प बनाती रहती है और उसमें संजीवनी फूंकने का काम होता रहता है। कई मजेदार प्रसंग इसी गुदगुदानेवाली भाषा में कही गई है। भाषा का यह स्तर एक जैसा नहीं रहता और संजीदा विषय आते ही भाषा भी संजीदा हो जाती है:

‘अतः मृत्यु का कारोबार यहां चौबीसों घंटे चलता रहता है। सही अर्थों में मृत्यु बनारस का एक बहुत बड़ा उद्योग है।’

मृत्युबोध की राख से निकली यह कृति जिजीविषा की उत्कट आकांक्षा पर समाप्त होती है, जिसके अप्रतिम प्रहरी थे तुलसीराम। प्रो. तुलसीराम की यह कृति केवल एक व्यक्ति की आपबीती या आत्मकथा नहीं बल्कि दर्शन, विचार, इतिहास और राजनीति का कोलाज है। यह एक प्रगतिशील और प्रतिबद्ध कम्युनिस्ट की आत्मकथा है जिसने भारत को एक धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र के रूप में, समतावादी समाज के रूप में और करूणामयी संसार के रूप में विकसित होने का स्वप्न देखा और इसके लिए प्रयत्नशील रहा और कामयाब भी हुआ क्योंकि उनकी रचनाएं नई पीढ़ी को नया मार्ग दिखाने का कार्य करती रहेंगी और अंततः वे तुलसीराम को अमर रखेंगी। ■

अभिव्यक्ति की कीमत चुकाने वाले मुक्तिबोध पर आत्मीय नजर

■ अबनीश मिश्रा

प्राध्यापक एवं आलोचक

संपर्क: हिंदी विभाग,
श्यामलाल कॉलेज,
दिल्ली-1100

यह आश्चर्य की बात है कि हिंदी साहित्य में मुक्तिबोध की उपस्थिति एक मिथक की भांति है। आश्चर्य इसलिए क्योंकि हिंदी का एक सामान्य प्रबुद्ध पाठक, मुक्तिबोध की कविता से टकराए बिना आगे कदम नहीं बढ़ा सकता, लेकिन मुक्तिबोध की जिंदगी के सफहे कम ही पलटे गये हैं। अपनी कविता में समकालीन यथार्थ से 'ज्ञानात्मक संवेदन' के धरातल पर टकराने वाले मुक्तिबोध के व्यक्तित्व और उनके जीवन-संघर्ष से कम पाठक ही ठीक से परिचित रहे हैं। मुक्तिबोध की कविताएं पढ़ते वक्त यह तथ्य अक्सर बिसरा दिया जाता है कि उनकी कविता का जो तनाव है, उनकी आवाज की जो ईमानदारी है, उसका स्रोत उनका जीवन है। उनका जीवन संघर्ष, उनकी कविता से मिलकर एकमेक हो गया है। उनकी कविता का सत्य उनके जीवन सत्य से जा मिला है। मुक्तिबोध की कविता की व्याख्या, विश्लेषण के लिए कई साहित्यिक टूल्स अपनाये जा सकते हैं, लेकिन इस कविता को 'जानने' का कोई भी सूत्र उनके जीवन से होकर ही गुजर सकता है। राजेंद्र मिश्र के संपादन में आई नयी किताब, 'छत्तीसगढ़ में मुक्तिबोध' वह रास्ता बनाती है, जिसकी ऊबड़-खाबड़, पथरीली, अवसाद से भर देने वाली सतह पर चलकर मुक्तिबोध के जीवन, उनकी कविताओं की रचना-प्रक्रिया के बारे में जाना जा सकता है।

लंबे और अनथक संघर्ष के बीच, असुरक्षा बोध और अपने समय में हस्तक्षेप करने की बेचैनी से भरा असमतल जीवन मुक्तिबोध की कविताओं को आकार देता है। वैसे इसे उलटे रूप में कहना ज्यादा बेहतर होगा कि उनकी कविता ही उनके जीवन को बेचैन और असमतल बनाती है। यही उनकी कविता की प्रामाणिकता की वजह है। मुक्तिबोध के जीवन का सबसे रचनात्मक और उत्पादक हिस्सा उनके राजनांदगांव, छत्तीसगढ़ प्रवास का है। वाराणसी, इलाहाबाद, जबलपुर,

नागपुर से होते हुए वे छत्तीसगढ़ पहुंचे थे। वे तार-सप्तक में बहुत पहले छप चुके थे। राजनांदगांव आकर उन्होंने 'अंधेरे में' और 'ब्रह्म राक्षस' जैसी महान कविताएं लिखीं। 'नयी कविता का आत्मसंघर्ष', 'कला का तीसरा क्षण' जैसी समीक्षाएं लिखीं। 'काठ का सपना' में संकलित कहानियां भी यहीं लिखी गयीं।

तार सप्तक के पहले कवि के तौर पर प्रकाशित होने वाले मुक्तिबोध जहां निरंतर उत्कृष्ट लेखन कर रहे थे, वहीं हिंदी साहित्य जगत उनको लेकर संवेदनहीनता के स्तर तक उदासीनता बरत रहा था। उनकी कविताएं पत्रिकाओं में छप रही थीं, लेकिन उनका संकलन नहीं आ पाया था। उनका कविता संग्रह तो उनके जीवन-काल में नहीं ही निकल पाया। लेकिन छत्तीसगढ़ में अपने प्रवास के दौरान उन्होंने, जरूर अपनी रचनात्मकता को ऐसा उत्कर्ष दिया, जिसके कारण वे आज भी उस समय के 'बड़े-बड़ों' से कहीं ज्यादा विशाल और विराट नजर आते हैं। यह अकारण नहीं है कि पिछले दो दशकों में यह पहली बार हुआ है कि किसी कृति के पचास वर्ष होने पर उसे सेलिब्रेट करने के लिए, नयी रोशनी में उसकी प्रासंगिकता को जांचने के लिए देश भर में, पत्र-पत्रिकाओं में लगातार विशेष आयोजन हुए हैं।

यह कृति है, उनकी 'अंधेरे में' कविता। 'अंधेरे में' कविता का संबंध, उसके पूरे रूप और विन्यास, भाषा और 'इमेजरी' का संबंध छत्तीसगढ़ के उनके प्रवास से है। इस कविता का लोकेल वही है, जो राजनांदगांव का है। जाहिर है, राजनांदगांव में मुक्तिबोध की जीवन-कथा को समझे बिना, उनकी 'अंधेरे में' और कई अन्य कविताओं की रचना-प्रक्रिया के बारे में नहीं जाना सकता है। 'छत्तीसगढ़ में मुक्तिबोध' इस लिहाज से एक बेहद रोचक, उत्तेजक और जरूरी किताब मानी जा सकती है, जिसका अध्ययन मुक्तिबोध साहित्य के हर

पुस्तक: छत्तीसगढ़ में
मुक्तिबोध
संपादक : राजेंद्र मिश्र
प्रकाशक: राजकमल प्रकाशन,
दरियागंज, नई दिल्ली
प्रकाशन वर्ष: 2014
मूल्य: ₹ 550

जे. पी. त्रिपाठी की एक कलाकृति

अध्येयता को ही नहीं, एक कवि के जीवन-संघर्ष और कविता के बारे में जानने को उत्सुक हर सुधि पाठक को करना चाहिए।

हालांकि, किसी कवि के जीवन के किसी खास खंड से उसकी रचनाओं का संबंध जोड़ना घातक साबित हो सकता है, खासकर इसलिए क्योंकि कवि के व्यक्तित्व के निर्माण में उसके संपूर्ण जीवन-संघर्ष का योगदान होता है, और यह बात मुक्तिबोध के लिए भी उसी तरह लागू होती है, लेकिन मुक्तिबोध के कवि व्यक्तित्व में यह स्थान समाया हुआ है। इस जगह ने उन्हें जीवन की नयी प्रेरणा दी। 1963 ईस्वी में श्रीकांत वर्मा को पत्र में मुक्तिबोध ने लिखा था (यह पत्र किताब में संकलित है।), 'छत्तीसगढ़ में, जहां मुझे मेरे प्यारे छोटे-छोटे लोग मिले, जिन्होंने मुझे बांहों में समेट लिया, और बड़े भी मिले, जिन्होंने मुझे सम्मान और सत्कार प्रदान करके, संकटों से बचाया। मैं उन्हीं के कारण-आप सबके कारण-हां आपके कारण, मनुष्य में विश्वास खो नहीं पाता- मैं सैद्धांतिक बात नहीं बता रहा हूं। उस छत्तीसगढ़ का ऋणी हूं, जिसने मुझे और मेरे बाल-बच्चों को शांतिपूर्वक जीने का क्षण दिया।'

ये बेहद मार्मिक पंक्तियां हैं, और इसमें एक कवि का जीवन संघर्ष प्रकट होता है। इन पंक्तियों को पढ़ कर अनायास अगर आपका ध्यान निराला की 'राम की शक्तिपूजा' की इन पंक्तियों की ओर जाता है, तो इसमें हैरत नहीं होनी चाहिए।

'श्लथ धनु-गुण है, कटिबंध स्रस्त तुणीर-धरण,

दृढ जटा-मुकुट हो विपर्यस्त प्रतिलट से खुल
फैला पृष्ठ पर, बाहुओं पर, वक्ष पर, विपुल
उतरा ज्यों दुर्गम पर्वत पर नैशान्धकार'

जिन परिस्थितियों में लगातार टूटते-बिखरते हुए, (और यह टूटना और बिखरना बाहरी से कहीं ज्यादा आंतरिक था) मुक्तिबोध राजनांदगांव पहुंचे थे (जिसका प्रमाण है, नेमिचंद्र जैन को लिखी उनकी चिट्ठी) जिस तरह हिंदी समाज ने ही मुक्तिबोध पर वार किये थे, उन्हें लगातार मुख्यधारा के हाशिये पर रखा था, न्यूनतम मानवीय गरिमा के साथ रचनात्मक जीवन गुजर कर पाने का संकट गहरा गया था, वैसी परिस्थितियों में राजनांदगांव ने उन्हें कैसे उबारा, कैसे उन्होंने अपने अंदर के महान रचयिता को फिर से हासिल किया, उसकी कथा, मुक्तिबोध के जीवन का एक खास अध्याय है। यह

को थोड़ा कम।
नागपुर के मित्रों के
बीच मुक्तिबोध जी
महागुरु कहलाते थे।

नवल किशोर की एक कलाकृति

किताब हमें उनके जीवन के इसी अध्याय का आंखों-देखा हाल सुनाती है। यहां उनकी कविता पर कुछ महत्वपूर्ण लेख पुनः संकलित किये गये हैं, जो उस दूरबीन की तरह है, जिसकी मदद से पाठक की समझने की क्षमता से दूर नजर आने वाली कविता, नजदीक दिखाई देने लगती है। पकड़ में आने लगती है। यह किताब, मुक्तिबोध के उन करीबियों की निगाह से उन्हें देखने की भी कोशिश है, जो आखिरी वर्षों में उनके साथ थे। साथ ही मुक्तिबोध की उस दौर की कविताएं, पत्र और आलोचनात्मक लेखों को भी यहां संगृहीत किया गया है। इस तरह से यह मुक्तिबोध के रचनात्मक उत्कर्ष के दौर की कई मायनों में मुकम्मल तस्वीर है।

श्रीकांत वर्मा, मुक्तिबोध के काफी प्रिय और आत्मीय थे। उन्होंने मुक्तिबोध पर काफी प्रामाणिकता के साथ लिखा है। इस किताब की शुरुआत भी श्रीकांत वर्मा के

लेख 'मुक्तिबोध की कविता' से हुई है। श्रीकांत वर्मा ने लिखा है, 'अपने जीवनकाल में या मृत्यु के बाद बुत की तरह स्थापित हो जाना नहीं, बल्कि आने वाले युगों के लिए चुनौती के रूप में बने रहना अमरता है।' काल गवाह है कि हिंदी कविता में यह काम मुक्तिबोध करते हैं। मुक्तिबोध को उन्होंने ऐसा कवि माना है, जो इतिहास के क्रम में बनता और नष्ट होता चलता है। वे लिखते हैं, मुक्तिबोध की कविता के साथ ही जो परिवर्तन हुआ उसमें मान्यताओं के बहुत से दुर्ग गिर गये। ...तार सप्तक के प्रति अपनी निष्ठा को आखिरी तक निबाहते हुए मुक्तिबोध ने जीवन भर कविता को नष्ट किया।'

श्रीकांत वर्मा ने यहां मुक्तिबोध की कविताओं के सहारे कविता पर एक नये किस्म की उत्तेजक सैद्धांतिकी रच डाली है, जिसे पढ़ना कविता के नये प्रतिमानों के प्रति सजग बनाता है। यह लेख, हमें आगाह

करता है कि 'नयी कविता' को पुरानी प्रणालियों के सहारे नहीं पढ़ा जा सकता। अगर हमें 'नयी कविता' के बारे में, जिसे प्रयोगवाद की 'रूप-आसक्ति' के भंवर में डाले बिना, सिर्फ मुक्तिबोध ही निबाह रहे थे, समझना है तो श्रीकांत वर्मा का यह लेख इसमें हमारी मदद कर सकता है।

प्रभात त्रिपाठी का लेख, 'मुक्तिबोध का काव्य संसार' गहरी अंतर्दृष्टि के सहारे लिखा गया है। मुक्तिबोध ने स्वयं कहा था कि उनकी हर कविता वास्तव में अधूरी है, क्योंकि अपनी कविता के सहारे वे जो कहना चाहते हैं, वह पूरी तरह से, मुकम्मल तरीके से कह नहीं पाते। कुछ कहना हमेशा छूट जाता है। मुकम्मल होने की अकुलाहट उनकी इन पंक्तियों में दिखाई देती है-

“फिर वही यात्रा सुदूर की
फिर वही भटकती हुई खोज भरपूर की
कि वही आत्मचेतस अंतः संभावना
जाने किन खतरों से जूझे जिंदगी...”

प्रभात त्रिपाठी के लेख का प्रस्थान बिंदु यही है। वे सही लक्षित करते हैं कि 'मुक्तिबोध की समग्र काव्य साधना इसी खोज की साधन है।' वे कहते हैं कि एक कवि की हैसियत से मुक्तिबोध शब्द खोज रहे थे, ऐसे शब्द जो उनकी बेचैनी, उनके उत्साह, उनकी भावुकता, उनकी बौद्धिकता, उनकी निराशा, उनके आत्मविश्वास को धारण करने वाले शब्द बन सकें। प्रयोगवाद के शब्द-खोज की तुलना में यह शब्द खोज किस आत्मसंघर्ष से भरा रहा होगा इसकी कल्पना की जा सकती है। यह लेख मुक्तिबोध की कविताई की ठोस जमीन पर आत्मीयता के अंकुर उगाने का काम करता है और यह बताने की कोशिश करता है कि 'दरअसल मुक्तिबोध की समूची कविता आत्मीय बातचीत का विलक्षण दस्तावेज है' और उनको जानने के लिए, उनकी कविता के निकट होने के लिए हमें भी इसी तरह की दंभरहित जिज्ञासा के साथ उनकी कविता के संसार में प्रवेश करना होगा।' एक बड़ा रचनाकार आलोचकों के लिए चुनौती पैदा करता है, वह आलोचना को भी आगे बढ़ाता है, उसे उत्कर्ष प्रदान करता है। प्रभात त्रिपाठी के लेख को पढ़ते हुए यह अहसास बार-बार होता है।

शरद कोठारी के संस्मरण 'मुक्तिबोध: एक फ्लैश बैक' से राजनांदगांव के दिग्विजय सिंह महाविद्यालय में मुक्तिबोध को मिले घर और आसपास के स्थान और उनकी कविताओं कहानियों के बीच का संबंध उजागर होता है। जो लोग कविता को सिर्फ पाठ समझते हैं और उसे लेखक से अलग कर देखने के पक्षधर हैं, उन्हें यह संस्मरण जरूर पढ़ना चाहिए।

यह किताब इस मायने में भी महत्वपूर्ण है कि इसमें उस दौर के मुक्तिबोध के दो सहचरों/साथियों- श्रीकांत वर्मा और प्रमोद वर्मा के साथ मुक्तिबोध के रिश्ते के बारे में भी सामग्री है। रमेश याज्ञानिक के संस्मरण 'मुक्तिबोध क्या पढ़ते थे', मुक्तिबोध के

यह पुस् वाटर' नीति के जरिए अपनी ताकत को भारत में प्रतिष्ठित कर दिया था।

अध्ययन की रेंज को दर्शाता है। एक कवि के मानस के निर्माण में उसके अध्ययन का योगदान बेहद अहम होता है। यह लेख यह दिखाता है कि मुक्तिबोध ने अपनी कविता, अपने चिंतन के लिए कितनी तैयारी की थी।

इस किताब का दूसरा हिस्सा मुक्तिबोध की रचनाओं का है, जिसमें उनकी कालजयी कविताएं 'अंतः करण का आयतन', 'मुझे कदम-कदम पर', 'अंधेरे में', भूल-गलती, उनकी कहानियां क्लॉड इथरली, विपात्र, आलोचनात्मक लेख 'तीसरा क्षण', 'शमशेर' मेरी दृष्टि में' और उनके लिखे पत्र शामिल हैं। इन रचनाओं का महत्व निर्विवाद है और इनके बारे में यहां लिखने का न अवकाश है, न जरूरत। हां, यह बात जहन में आये बगैर नहीं रहती

कि 'चांद का मुंह टेढ़ा है', 'अंधेरे में', 'ब्रह्म राक्षस' की प्रसिद्धि में उनकी 'अंतः करण का आयतन', 'मुझे कदम-कदम पर', 'भूल-गलती' जैसी कविताएं, जो कविता के इतिहास में श्रेष्ठतम कविताओं की सूची में रखे जाने योग्य हैं, की कम ही चर्चा होती है। मुक्तिबोध के प्रशंसक इन कविताओं का महत्व जानते हैं और इन्हें उद्धृत भी करते रहे हैं। इस संग्रह में संगृहीत होकर, ये सामान्य पाठकों द्वारा फिर से ज्यादा गौर से पढ़े और गुने जायेंगे, इसकी उम्मीद की जा सकती है। मुक्तिबोध द्वारा राजनांदगांव जाने से पहले नेमिचंद्र जैन को लिखा गया पत्र किसी भी सहृदय, संवेदनशील पाठक को उद्वेलित कर सकता है। यह पत्र दिखाता है कि किस तरह से दो युग के दो महानतम कवि- निराला और मुक्तिबोध अपने संघर्ष में समान हैं। यह विश्व के श्रेष्ठतम कवियों में गिने जाने लायक कवि की ऐसी आत्माभिव्यक्ति है, जो सिर्फ उनके व्यक्तित्व और संघर्ष को ही नहीं, बल्कि यह भी दिखाती है कि हिंदी समाज अपने सर्वाधिक प्रतिभाशाली कवि को उसका देय देने में नाकाम रहा।

राजेंद्र मिश्र के संपादन में आयी किताब समय पर आयी किताब है। एक ऐसे समय में जिसका गुण विस्मृति है, यह किताब हमें मुक्तिबोध के जीवन संघर्ष के विभिन्न आयामों को पाठकों के सामने लाकर, उन्हें सिर्फ एक महान कवि के करीब ही नहीं लाती, उन्हें अपने करीब भी लाती है। उन्हें यह बताती है कि ईमानदार रचनाशीलता वास्तव में 'अभिव्यक्ति के खतरे' से भरी होती है। यह ईमानदारी कवि के भौतिक जीवन को नष्ट कर सकती है, लेकिन इस पथ पर वही चल सकता है, जिसमें खुद को नष्ट कर देने की क्षमता हो। कबीर के शब्दों में 'जो घर जारे आपणा चले हमारे साथ' रचनाशीलता की प्राथमिक शर्त है, जिसका प्रदर्शन मुक्तिबोध ने पूरे जीवन किया। ■

गायब होते देश की रुमानी अभिव्यक्ति

■ जीतेन्द्र गुप्ता

आलोचक

संपर्क :

महात्मा गांधी अन्तरराष्ट्रीय
हिंदी विश्वविद्यालय,
गांधी हिल्स, वर्धा-442005

रणेन्द्र का उपन्यास 'गायब होता देश' समकालीन रविमर्शों के नज़रिए से एक महत्वपूर्ण कृति प्रतीत होती है। समकालीन समय में आम तौर पर विमर्श से प्रेरित कृतियाँ, सीमित अर्थों में, केवल कहानी विधा या कविता तक में सिमट कर रह जा रही हैं। उपन्यास विधा होने के कारण इस कृति से बेहतर हस्तक्षेप की संभावना बन सकती है।

रणेन्द्र ने इस उपन्यास को कई स्तरों पर संयोजित किया है। पहला स्तर एक अपराध कथा या क्राइम थ्रिलर के रूप में है। किशन विद्रोही की हत्या से इस उपन्यास की पूरी कहानी का ताना-बाना बुना गया है। इस हत्या के कारणों की पड़ताल करने के क्रम में एक दूसरी दुनिया- और शायद एक भिन्न सभ्यता- से पाठकों का परिचय होता है। और इस उपन्यास का तीसरा स्तर मिथकीय स्तर पर एक नई दुनिया की पहचान निर्मित करना है। लेकिन यहां यह कहना बहुत ज़रूरी है कि यह तीनों ही स्तर आपस में घुले-मिले हैं या एक दूसरे को आच्छादित करते हैं। ये स्तर किस प्रकार एक दूसरे को आच्छादित करते हैं, उपन्यास के पहले ही पैराग्राफ से देख सकते हैं, 'किशन विद्रोही की हत्या कर दी गई! लेकिन न तो कोई चैनल न कोई अख़बार पूरी गारंटी के साथ यह कहने के लिए तैयार था कि हत्या हुई है। लाश मिली नहीं थी। खून में सना तीर और बिस्तर में ज़ज्ब खून के गहरे धब्बे यह बताने की कोशिश कर रहे थे कि हत्या ही हुई होगी।' (पृष्ठ- 4) उपन्यासकार ने यह एक अच्छी स्थिति उत्पन्न की कि किशन विद्रोही की शख्सियत का मोटा-मोटी खाका सामने रख दिया है, 'सामंती माहौल के घुटन भरे अंधेरों से निकलकर आया था विद्रोही, जहां भले घरों की महिलाएं सात पर्दों के भीतर रहती हैं। इसलिए स्त्रियां उसे कुछ ज्यादा ही आकर्षित करतीं। स्त्री अगर बौद्धिक हुई तो असंतुलित सा हो जाता। लेकिन दुश्चरित्र नहीं था विद्रोही। लाख उससे बौद्धिक बहसें होती हों। समाजवादी आग्रहों को अत्यंत आक्रामक तरीके से रखता। सीधे सर पर सवार

होने को आतुर। बहस में लोकतांत्रिक नहीं रह पाता।' (पृष्ठ- 5)

किशन विद्रोही की हत्या के रहस्य को किशन का ही एक प्रशिक्षु पत्रकार राकेश सुलझाने की कोशिश करता है। इसी क्रम में वह न केवल किशन विद्रोही के जीवन को ठीक से जान पाता है, बल्कि आदिवासियों के संघर्ष के साथ किशन विद्रोही का कैसा आत्मीय रिश्ता था, इसे भी वह समझने में सक्षम हो पाता है। जे.पी. आंदोलन के दौरान बुद्धुबीघा में भूमिहीन मजदूरों द्वारा मठ की जमीन को जोतने के संघर्ष में वह कमला की जान बचाता है और बाद में यह घटना कमला और किशन के दांपत्य की नींव का पत्थर साबित होती है- जिसमें जे.पी. की शुभकामनाएं भी शामिल हैं।

राजेश को किशन के घर से जो डायरी, जेराक्स पत्रे और अख़बार आदि मिलते हैं, उससे वह परिचित हो पाता है कि किशन की त्रासदी का स्रोत वहां है, जब वह किशनपुर एकसप्रेस के पत्रकार के रूप में वीर चक्र प्राप्त परमेश्वर पाहन की हत्या-मुठभेड़ की गुत्थी सुलझाने हिराहातु जाता है। किशन की डायरी के पत्रों से जो कुछ उजागर होता है, वह एक सभ्य राष्ट्र- राज्य की व्यवस्था के लिए कहीं से भी उमंग से भरा नहीं है। इसके बजाए यह राष्ट्रीय पतन की एक ऐसी रपटीली राह का सिलसिलेवार वर्णन है, जहां से ऊपर की उठना नामुमकिन ही है। किशन पर अख़बार के प्रबंधन की ओर से दबाव पड़ता है कि वह इस तरह की खबरों को ज्यादा तबब्जो नहीं दे। 'के.के. बदलो यार। समय के साथ कदम से कदम मिलाकर चलना ही बुद्धिमानी है। प्रोफेशनल लाइफ में अडियलपन से काम नहीं चलता। आगे दूर तक देखिए। स्थानीयता में मत उलझिए। राष्ट्रीय दृष्टि से परिघटनाओं का विश्लेषण कीजिए।' और आगे 'पाठक ग़रीबी, बदहाली, भूख, बेकारी, विस्थापन, आदिवासियों- दलितों की कहानियां पढ़-पढ़कर बोर हो गया है।' (पृष्ठ- 119)

जाहिर तौर पर यहां उपन्यासकार की तारीफ करनी पड़ेगी। वह देश के तथाकथित 'फील गुड' और विकास

पुस्तक: मैंगोसिल
लेखक: उदय प्रकाश
प्रकाशक: पेंगुइन इंडिया
प्रकाशन वर्ष: 2010
मूल्य: ₹200

के नारों के बीच किशन जैसे किरदार के माध्यम से देश की उस एक आबादी की खोज- खबर करता है, जो करीब-करीब हाशिए पर पड़ी है, नाजी जर्मनी की तरह तो नहीं, लेकिन एक विशिष्ट किस्म के आर्थिक और सांस्कृतिक नसंहार की शिकार है। आदिवासियों या वंचितों के नज़रिए से देखें तो यह संघर्ष वैसा ही है जैसा कभी ब्रितानी साम्राज्यवाद के साथ भारतीय जनता का संघर्ष था। तकलीफ़ और शोषण की इंतहा यह है कि 'लग ही नहीं रहा था कि 2000 ईस्वी में हों। लग रहा था कि 13 फरवरी 1832 हो। कतान इंपे की बंदूकें गोलियां बरसा रही हों। वीर बुधु भगत के साथ-साथ पूरा सिलगई शहीद हुए जा रहा हो। या 9 जनवरी 1900 ईस्वी हो और सईल रकब पर मुंडाओं की बैठकी पर गोलियां बरसाई जा रही हों। 1832 ईस्वी, 1900 ईस्वी और 2000 ईस्वी आपस में गले मिल रहे थे। गोलियां चल रही थीं जिंदा हंसते- गाते इंसान शहीद हुए जा रहे थे।' (पृष्ठ- 163) ये वास्तविक यथार्थ की स्थितियां किसी भी व्यक्ति को मनो रोगी बनाने के लिए पर्याप्त हैं। किशन विद्रोही की जायरी में दर्ज इस इब्रत को देखकर अन्याय और अत्याचार की पराकाष्ठा का अंदाजा हो पाएगा, 'अखबार बंगाल हरकारा, 25 फरवरी 1832 के पन्ने आंखों के सामने फड़फड़ा रहे हैं। पिठौरिया कैप, कैप्टन विलकिंसन के टेंट के अंदर टेबुल पर वीर बुधु भगत का मसाला लगा हुआ सिर सजा हुआ। एक अजब तरह की उबकाई भरी गंध, जिसे कैप्टन विलकिंसन और कैप्टन इंपे जोर-जोर से अपने नथुनों-छाती में भर रहे, चंद लम्हों में उनकी पीठों पर सुनहरे पंख उग आते हैं। आसमान की ऊंचाई पर दोनों गोरे साहब, उनके अड्डाहास की गूंज से डूबता माहौल।' (पृष्ठ- 188)

आदिवासी समाज के बारे में व्यापक समाज में व्याप्त कुछ विभ्रमात्मक धारणाओं को तोड़ने का काम भी यह उपन्यास करता है। आमतौर पर आदिवासी समाज को एक समग्र अस्मिता के रूप में देखा जाता है। लेकिन वास्तविक स्थिति ऐसी नहीं है। आदिवासी समाज में विभाजन इस कदर है कि इस समुदाय से किसी किस्म की सामुदायिक एकता की अपेक्षा करना संभव ही नहीं है। 'अब सौंसार आदिवासी हैं तो का, वीरेन तो मुंडा है, हम संताल हैं, उरांव हैं, खड़िया हैं, खेरवार हैं, लोहरा हैं, हम काहे को उसको लीडर माने। हम सौंसार है तो मिशन लोग के साथ नयं बैठेंगे।' (पृष्ठ- 215) असल में जातिगत या सामुदायिक विभाजन स्वयं में कोई ऐसी चीज़ नहीं है, जिसके लिए कहीं से तार्किकता खोजी जा

सके। वास्तव में यह विभाजन आर्थिक है और सत्ता संरचना में हिस्सेदारी से निर्मित होता है। उपन्यासकार ने बेहतर ढंग से इस तथ्य को उजागर किया है, 'दूसरे ही दिन सोलह फ्लैट के लिए बत्तीस ग्राहक। सबके सब आदिवासी साहब-सूबा लोग.. ऐसन लंबी-लंबी गाड़ी सब में एतना ट्राइबल अफसर एके साथ पहली बार देख रहे थे। सौ किलो- सवा सौ किलो के भी साहब। सरनेम है तिग्गा, तिकी, खलको, लकड़ा, बाकी कुडुख (उरांव की मातृभाषा) में गोठियाने लगे तो लगा सब मुँह फाड़ के भकुआ टाईप देखने। बाबा! हम तो सोचते थे कि हमहीं पुराना पापी हैं। समाज के गद्दर.. खाली नामे भर के आदिवासी है ई लोग बाबा। कल रिज़र्वेशन खत्म कर दीजिए तो अपना के आदिवासी कहने में भी शरमाएगा ई लोग।' (पृष्ठ- 258) यह स्थिति वास्तव में प्रतीकित यह करती है कि (कम से कम हिन्दुस्तान में) कल्याणकारी राज्य की अवधारणा का सत्ता ने अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिए इस्तेमाल किया है और सामाजिक समानता के नाम पर देश के नागरिकों को जो स्वप्न दिखाया जाता है, वह मात्र स्वप्न ही है। आरक्षण की नीति का इस्तेमाल सत्ता ने सामाजिक उत्थान के बजाए स्वयं के एक समर्थक वर्ग को जन्म देने के लिए किया गया है।

नीरज, अनुजा, सोनामनी, मगरा माई आदि जैसे किरदारों के माध्यम से उपन्यासकार ने आदिवासियों के प्रतिरोध को पूरी गरिमा के साथ व्यक्त किया है। लेकिन प्रतिरोध के उत्तरपक्ष को सृजित करते हुए उपन्यासकार कुछ एक मिथकीय संकल्पनाओं को सामने लाता है- जो शायद संघर्ष की पहली अवस्था के लिए बहुत ज़रूरी होता है। लेकिन आदिवासियों का यह संघर्ष अपनी प्रारंभिक अवस्था में नहीं है, इस संघर्ष का इतिहास- भूगोल बिरसा मुंडा और उनके पूर्ववर्तियों से लेकर एक सतत परंपरा में है। इस तथ्य को उपन्यासकार ने भी दर्ज किया है, जिसके प्रमाणस्वरूप पूर्वोद्धृत उद्धरणों को पुनः देखा जा सकता है। मुंडाओं के अतीत का जिक्र करते हुए उपन्यास के एक अन्य आदिवासी किरदार वीरेन का कहना है, 'सोमेश्वर मामू तो पंडित आदमी हैं, वो तो पूरी लंबी चौड़ी कहानी सुनाने लगेगा लेमुरिया का। कैसे मुंडा लोगों का मूल स्थान समुद्र में समा गया और हम लोगों के पूर्वजों का ढेर ज्ञान भी बिला गया। नयं तो केतना ज्ञानी थे मुंडा लोग। धरती माता, सरना माई, सिंगबोगा से जो भी सीखा था उसे संजो कर रखे थे। सबकी इज्जत करना, सम्मान करना, कम से कम में संतोष करना और

**ग्लोबल साम्राज्यवादी
अर्थतंत्र की एक
मानवीय परिणति सूरी
है जो मैंगोसिल
नामक बीमारी का
दुनिया के अन्यायों
को सहने को
अभिशाप्त है।**

ज्ञान बढ़ाना यही जिंदगी का मकसद था लेमुरियन मुंडाओं का। लेकिन ताकत इकठ्ठा करने वाले, धन इकठ्ठा करने वाले उन्हें अपना दुश्मन मानते थे।' (पृष्ठ- 107) यह तथ्य केवल मुंडाओं के बारे में ही सत्य नहीं है, बल्कि मनुष्य की हर एक आदिम प्रजाति के बारे में सत्य है। लेकिन समस्या तब उत्पन्न होती है, जब इस सामान्य तथ्य को और अधिक महिमामंडित करते हुए उसे वैज्ञानिक गल्प में बदल दिया जाता है, 'उनकी दूसरी कोशिश थी कि सारे ज्ञान को क्रिस्टल-मणि का रूप दे दिया जाए और उन्हें हीरों के रूप में धरती के अंदर छुपा दिया जाए' और 'पानीडूब से बचने का सबसे बड़ा उपाय हमारे पूर्वजों ने किया कि उन्होंने धरती के ऊर्जा केंद्र से दूसरे ऊर्जा केंद्रों के बीच भूमिगत सुरंगें बनाई।' (पृष्ठ- 133)

उपन्यासकार अस्मिता विमर्श और रुढ़िवाद की उन्हीं जकड़नों का शिकार है जो मिथक को विज्ञान मानने पर मजबूर करता है और अतीत के महिमामंडन की उन रुमानी कहानियों में खोने के लिए प्रेरित करता है, जहां देवभूमि या ईडन गार्डन में सब कुछ श्रेष्ठ था। यह स्थिति हर एक धर्म के साथ मौजूद है। यहां तार्किक चेतना नहीं बल्कि 'विश्वास' (संपूर्ण आस्था) की संरचना स्वाभाविक रूप से मौजूद होती है। यह वह विभ्रमात्मक चेतना की स्थिति है, जहां हर एक किस्म के धार्मिक रीति-रिवाज अनुष्ठान आदि भी 'छद्म वैज्ञानिक चेतना' समाहित किए हुए प्रतीत होते हैं। यहां तक कि मृत्यु को भी विजित करने का दावा! 'टेलेर्मस' की घटती लंबाई कोशिका की विभाजन क्षमता को घटा देती है' अगर टेलेर्मस की लंबाई को घटने नहीं दिया जाए तो कोशिकाओं का विभाजन होना न बंद पड़ेगा, न रुकेगा। नतीजतन बुढ़ापा दस्तक ही नहीं देगा।' (पृष्ठ- 306) और कमाल यह कि सोमेश्वर बाबा की खोजी गई ऊर्जा प्रविधि ऐसा करने में सक्षम है! बिल्कुल इसी तरह की अन्य घटना। 'मीटिंग की खबर सुन सोमेश्वर सर मिलने आए, पीतल की चुनौटी दी। काजल-अंजन भरी चुनौटी। बताया बहुते खास है। मुंडा समाज के अगुआ- मरांग लोगों को ही इसकी जानकारी है.. हमारे देवड़ा- वैद्य इसे

**'अंधरे में' का अंधरा
प्रकृति की विवेकहीनता
का प्रतीक है। यह
विवेकहीनता दो स्तरों पर
है- सामपुरुष' है।**

तैयार करते हैं। मुंडा समुदाय के पहले वैद्य दंतरी, सिरजन गुरु ने जिन्होंने खुद सिंगबोगा से यह विद्या सीखी थी। अंजन इसलिए दे रहे हैं कि 'बड़का लोग' से भेट-भाट होना हो तो उससे पहले इसे आंखों में लगा लीजिएगा। इस गिद्ध का मुलायम वाला पंख है। उसी से लगाना है। अंजन लगाने के बाद बड़का लोग, चरका-चमकीले लोगों का असली रूप नजर आने लगता है।' (पृष्ठ-165-66) यदि वैज्ञानिक चेतना का स्तर यह है तो महाभारत कालीन पुष्पक विमान की तार्किकता से कौन इंकार कर सकता है और गणेश की 'प्लास्टिक सर्जरी' को अतीत में चिकित्सा विज्ञान की चरम उन्नत स्थिति का प्रमाण बनने से कौन रोक सकता है?

सरल प्रश्न करें कि इस मिथकीयता की तार्किकता क्या है? जब 'अंजन' मौजूद ही है फिर ब्रितानियों या आंतरिक उपनिवेशवादियों का चरित्र आदिवासी कैसे नहीं पहचान पाए थे? इसी तरह से क्या यह प्रश्न नहीं उत्पन्न होता कि जब ज्ञान की दृष्टि से मुंडाओं ने सर्वोच्चता प्राप्त कर ली थी, लेकिन फिर क्यों लालची-लोगों और लालची प्रवृत्तियों को पहचानना नहीं

सीख पाए थे? खैर।

इस तरह की संरचनात्मक टूटन इस उपन्यास में जगह-जगह पर मौजूद है। उदाहरण के लिए सोमेश्वर मुंडा का चरित्र। उपन्यासकार ने सोमेश्वर मुंडा के हवाले से दर्ज किया है, 'वही, जो अमेरिका से साथ-साथ आई थी कभी न लौटने की कसमें खाते हुए। मजाक-मजाक में शिकागो-मिनिसोटा से ही मोनालिजा पुकारना शुरू किया था। बाद में मोनालिजा नाम ही पड़ गया। उसकी मुस्कान का राज भी खुला, मेरी ढाई-तीन साल की मेहनत हवा हो गई। वह वापस अमरीका लौट गई, लेकिन उलिहातु प्रयोग से जुड़े मेरे अध्ययन के सारे कागज-पत्र, डायरियां, नोट्स और बहुत कुछ उठाकर चलती बनी।' (पृष्ठ- 200) अब इस घटना की तार्किकता पर विचार कीजिए। तात्पर्य यह कि जब सोमेश्वर मुंडा पढ़ाई ही कर रहे थे, तभी अमरीकी बौद्धिकता- मोनालिजा को भविष्य के उनके अप्रतिम प्रयोग का पूर्वाभास हो गया था! और इसी प्रयोग की चोरी के लिए मोनालिजा (रोजा) ने सोमेश्वर मुंडा के साथ 'प्रेम' का षडयंत्र किया! ऐतिहासिक दृष्टिकोण से इसे ही 'कांसपिरेसी थ्योरी' कहते हैं। लेकिन यह सिद्धांत सामाजिक समस्याओं और विकास को समझने में मदद नहीं करता, बल्कि उनका सतहीकरण करता है। यही इस उपन्यास के साथ भी हुआ है।

इस उपन्यास की संरचनात्मक टूटन का एक अन्य उदाहरण स्वयं किशन विद्रोही का ही चरित्र है। कमला से प्रेम सिद्धांत और संघर्ष के प्रति प्रतिबद्धता के कारण उपजता है, जहां 'लुनाई की रंगत बदलना' भी शामिल है। फिर अनुजा? अचानक कार्य- कारण संबंध के बिना 'पेशानी सांची स्तूप के तोरणों' में तब्दील हो जाती है और 'बैजनी रंग' की बरसाते होने लगती हैं! इसी तरह राजेश किशन की हत्या की गुत्थी सुलझाने के क्रम वीरेन को खोजता है। यूथ फार एवर जिम में 'रजिस्टर उलट-पुलट कर देखा। वीरेन मुंडा की सबेरे पांच बजे की टाइमिंग, अपनी भी तय की।' (पृष्ठ-98) लेकिन राजेश जब इसी व्यक्ति को वीरेन नाम से पुकारता है, तो 'उसके हाथ थरथराए'! यहां तक

समकालीन आलोचना का मनुष्यधर्मी विवेक

■ शंभुनाथ मिश्र

लेखक एवं आलोचक

संपर्क:

द्वारा डॉ.जे.के.श्रीवास्तव
के-2, महानदी एक्स., इग्नू
कैंपस, मैदान गढ़ी, नई
दिल्ली-110068

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने अच्छे आलोचक की पहचान करते हुए लिखा है कि जो 'कविता में अंतर्निहित विचारों, उसके अंतर्भूत रहस्यों का उद्घाटन करके कवि के आंतरिक अभिप्राय को व्यक्त करता है, वही सच्चा समालोचक है।' (साहित्य विचार, आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी, पृ.99) इसकी व्याख्या में अन्यत्र भी वे स्पष्ट करते हैं - किसी वस्तु या विषय के सब अंशों पर अच्छी तरह विचार करने का नाम समालोचना है। कहने की आवश्यकता नहीं कि आज की आलोचना आचार्य द्विवेदी के दौर की आलोचना से बहुत आगे की यात्रा कर चुकी है। लेकिन क्या इसमें किसी को आपत्ति हो सकती है कि आलोचना के मूल में अवस्थित जिन तत्वों-विशिष्टताओं का संकेत उन्होंने किया है, वे आज की आलोचना की व्याख्या में भी उतने ही प्रासंगिक हैं। वस्तुतः आलोचना एक तरह का पुनर्सृजन होती है। इसमें खंडन-मंडन जैसे कृत्यों के लिए अवकाश नहीं होता, और जहां इस तरह का अवकाश पैदा किया जाता है वहां से आलोचना निकल लेती है। हमारा समकाल मूलतः सर्जनात्मक आलोचना की आवश्यकता महसूस कर रहा है क्योंकि सर्जनात्मक आलोचना ही रचनाओं का विस्तार करते हुए उन्हें व्यापक मानवीय अनुभूतियों से संबद्ध कर पाती है और इस तरह कुछ अर्थों में पुनर्सृजन भी कही जा सकती है। समकालीन आलोचना में व्याप्त तमाम घटाघोषों के बीच भी कुछ आलोचक अपनी इस जिम्मेदारी का निरंतर निर्वहन कर रहे हैं। सुपरिचित कवि आलोचक जितेंद्र श्रीवास्तव की किताब 'विचारधारा, नए विमर्श और समकालीन कविता' को इसी भूमिका की एक कड़ी के रूप में देखा जा सकता है। जितेंद्र स्वयं को मूलतः कवि मानते हैं और अपनी आलोचना को एक कवि के आपदधर्म (भूमिका से) की तरह देखते हैं। यह सत्य भी है कि जब भी किसी कालखंड की रचनाशीलता को सम्यक विवेकशील

आलोचना का अभाव खटका है तो वह स्वयं इस रिक्ति को भरने की जिम्मेदारी स्वीकार करती है। कहना अप्रासंगिक होगा कि कविता को समझने के लिए कविता का विवेक और आलोचक की कवि दृष्टि दोनों नितान्त आवश्यक हैं।

'विचारधारा, नए विमर्श और समकालीन कविता' शीर्षक किताब को समझने के लिहाज से कुछ जरूरी बिंदुओं को पूर्व चिन्हित कर पढ़ा जा सकता है। समीक्ष्य किताब की केंद्रीय चिंता में कविता से जुड़े कुछ शाश्वत प्रश्नों और कुछ समकालीन चुनौतियों, विमर्शों को स्थान दिया गया है। मसलन समकालीन कविता के वास्तविक सौंदर्यशास्त्र की चिंता। आधुनिकता, वैचारिकता और विमर्श केंद्रित आलोचना की आड़ में कविता के आत्म यानी उसके आंतरिक सौंदर्य का प्रश्न लगभग आलोचकों द्वारा भुला दिया गया है। वस्तुतः सौंदर्य को एक नकारात्मक धारणा के रूप में लेने का प्रचलन और कलावाद तथा कलात्मकता को एक दूसरे का पर्याय समझने की जल्दबाज नासमझी ने ऐसी स्थिति निर्मित की है।

जितेंद्र श्रीवास्तव अपनी इस किताब के जरिये इस भ्रम का प्रत्याख्यान करते हैं। वे जोर देकर लिखते हैं कि 'हिंदी में कलात्मकता को अधिकांश लोगों ने हेय बना दिया है। इसका एक कारण तो यह भी है कि कलात्मक होना आसान भी नहीं है। वह कठिन साधना की मांग करता है।' कहना न होगा कि हमारे दौर की आलोचना में कलात्मकता का पक्ष लेना 'तरवार की धार पे धावने' सरीखा कठिन भी है। इसलिए आलोचक की रचनात्मक तैयारी और कविता के विवेक की प्रशंसा करनी होगी, क्योंकि उनके पास इसके विरोध में उठाए जाने वाले अधिकांश तार्किक चिंताओं का प्रतिपक्ष भी है। हालांकि इसके जरिये इस निष्कर्ष पर नहीं पहुंचना चाहिए कि आलोचक कलात्मक कविता के ही आग्रही हैं। जितेंद्र कविता

पुस्तक : विचारधारा, नए
विमर्श और समकालीन कविता
लेखक : जितेंद्र श्रीवास्तव
प्रकाशक : किताबघर प्रकाशन,
नयी दिल्ली-110002
प्रकाशन वर्ष: 2013
मूल्य: ₹ 500

का मूल तो विचार को ही मानते हैं किंतु कलात्मकता के गहरे अनुशासन की भी चाह एक अच्छे कवि से रखते हैं। वस्तुतः उनका आग्रह इस बात पर है कि वैचारिकता और कलात्मकता को एक दूसरे का प्रतिस्पर्धी न मानते हुए परस्पर पूरक के तौर पर स्वीकार किया जाना चाहिए।

जितेंद्र श्रीवास्तव पुस्तक के विभिन्न निबंधों में जिस कालजयी या बड़ी कविता की बात करते हैं उसे इन्हीं रसायनों को बूझ-समझ कर ही रचा जा सकता है। कविता स्वाभाविक रूप से प्रतिस्पर्धी अनेक प्रत्ययों के अंतःसंघर्ष का परिणाम होती है। अतः इन अंतःसंघर्षों के बीच से गुजरे बगैर कविता के आत्मोद्धोषक और सर्वोद्धोषक स्वरूप के बीच तारतम्य निर्मित कर पाना कठिन होता है। संभवतः इसी लिए ब्लॉग और सोशल मीडिया के जरिये धड़ाधड़ लिखी जा रही कविता के प्रति आलोचक के मन में एक गहरा संदेह है। कविता में लोकतंत्र के नाम पर जिस तरह की भाषिक और वैचारिक गिरावट इधर दर्ज की जा रही है उसके प्रति आलोचक गंभीर रूप से चिंतित हैं।

इसमें कोई संदेह नहीं कि विचारधारा पर आधारित साहित्य कला के लिए रचे जाने वाले साहित्य से अधिक सार्थक होता है। यह सिद्धांत आलोचना के संदर्भ में भी उतना ही महत्वपूर्ण है जितना अन्य रचनात्मक साहित्यिक विधाओं के लिए। जितेंद्र श्रीवास्तव की पुस्तक का शीर्षक ही विचारधारा के प्रति उनके विशेष आग्रह को स्पष्ट करता है। 'समकालीन हिंदी कविता : नई चुनौतियां' शीर्षक से लिखी गई किताब की भूमिका या पूर्वपीठिका में वे इसके कारण और उद्देश्यों पर विस्तार से विचार करते हैं। शोषण की सत्ता के विरुद्ध शब्द की सत्ता को जितेंद्र एक प्रतिपक्ष मानते हैं।

वे कहते हैं कि शब्द की सत्ता निरंतर जागृति का उद्यम करते हुए एक दिन सफल होने का स्वप्न पालती और देती है, और इसी कारण सत्ता के शब्द साहित्य में आए जनता

के स्वप्न शब्दों के आगे धराशायी होते रहे हैं।' (पूर्वोक्त, पृ12) इसके समर्थन में वे याद दिलाते हैं 'पिछले बीस वर्षों में रची गई सांप्रदायिकता और सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के विरुद्ध सभ्यता समीक्षा की कविताओं की' (पूर्वोक्त, पृ12)। निश्चित रूप से विचारधारा के स्तर पर वही कविता महत्वपूर्ण साबित होगी जो व्यापक मानवीय चिंताओं से युक्त होगी। जिसमें अधिक जनपक्षधरता होगी। जो मनुष्यता के बचाव का निरंतर उद्यम करेगी। जितेंद्र श्रीवास्तव जीवन-जगत की तमाम जटिल संरचनाओं से टकराते हुए कवि के लिए भी विचारधारा के स्तर पर पर्याप्त ईमानदारी की अपेक्षा करते हैं। वस्तुतः यह एक प्रतिबद्ध आलोचक की नैतिक जिम्मेदारी भी है कि वह उन्हीं रचनाकारों को महत्व दे जो व्यापक मानवीय सरोकारों से जुड़ाव रखते हों। जितेंद्र अपनी आलोचना के जरिये इस जिम्मेदारी का सफलतापूर्वक निर्वहन करते दिखते हैं, इसीलिए वे किसी भी तरह के मूल्य निर्णय की मुद्रा से बचने के बावजूद भी दृढ़ हैं कि 'मनुष्यता की रक्षा की आदि प्रतिज्ञा कवि के साथ अवश्य होनी चाहिए' (पूर्वोक्त, पृ.15)। आलोचक मनुष्यता के बचाव की इन्हीं संभावनाओं को 'समकालीन हिंदी कविता की भारतीयता, 'नए सौंदर्यशास्त्र का प्रश्न', 'हीरा डोम की विरासत' और 'हिंदी की दलित कविता' तथा 'स्त्री-दृष्टि और कविता : एक, दो, तीन' शीर्षक अध्यायों के जरिये तलाश करते हैं।

'समकालीन हिंदी कविता की भारतीयता' पुस्तक का एक महत्वपूर्ण अध्याय है जो हिंदी कविता के साथ ही भारतीय कविता की केंद्रीय चिंताओं को समझने के लिहाज से अनिवार्य है। वस्तुतः भिन्न सामाजिक-राजनीतिक परिस्थितियां ही हमारे सर्जनात्मक रूपों की बनावट में अंतर पैदा करती हैं, अन्यथा सर्जक व आस्वादक चित्त की मूल प्रकृति सर्वथा एक जैसी होती है। इसलिए किसी एक भाषा में कुछ रचता हुआ सर्जक उसी भौगोलिक सीमा में दूसरी

भाषा में सृजनरत रचनाकार से भावभूमि के स्तर पर बहुत भिन्नता नहीं रखेगा। आलोचक जितेंद्र श्रीवास्तव इसके मूल में 'एक से दूसरे क्षेत्र के बीच अनवरत आवाजाही, एक भाषा में दूसरी भाषा के रचनाकारों की स्मृति, अपनी साझी विरासत को निर्बंध और अकुंठ भाव से प्रकट करने की उद्दाम लालसा' (पूर्वोक्त, पृ19) को मानते हैं, और इसीलिए उनकी स्पष्ट मान्यता है कि स्थानीयता और विश्वबोध मिलकर ही किसी रचना का वृहत्तर धरातल निर्मित करते हैं। इस तरह कोई रचना किसी एक भौगोलिक क्षेत्र, भाषा या जातीयता की सीमा तक बंधकर नहीं रह जाती बल्कि उसका बृहद स्तर पर प्रसार होता है। एक जैसी चिंताओं का आदान-प्रदान होता है। वस्तुतः आलोचक के यह निष्कर्ष इस मायने में महत्वपूर्ण हैं कि इनके जरिये कविता या कह लीजिए साहित्य मात्र में राष्ट्रवाद जैसे खतरनाक विचार की जगह भारतीयता जैसी अपनत्वपूर्ण अवधारणा का संधान हुआ है। इसलिये आलोचक जब साहित्य या कविता के संदर्भ में भारतीयता का अर्थ 'भूमंडलीकरण की आंधी में अपने साहित्य की निजता का भावबोध' (पूर्वोक्त, पृ.19) लेते हैं तो उनकी भारतीयता संबंधी चिंता का केंद्रबिंदु स्पष्ट हो जाता है।

जितेंद्र श्रीवास्तव की यह मान्यता काबिलेगौर है कि अनेक भाषाओं और प्रादेशिक चिंताओं के बावजूद- 'कोई भी रचनाकार यदि वह मनुष्य मात्र के कल्याण के लिए प्रतिबद्ध है, लोकमंगल की आकांक्षा रखने वाला है तो वह एक भाषा या प्रदेश की चिंता नहीं करेगा। वह चौखट लांगता है और इसी प्रक्रिया में उसकी रचना अपनी भारतीयता और अपना विश्वबोध प्रकट करती है।' (पूर्वोक्त, पृ.20) इसलिए उनके इस निष्कर्ष को भी महत्वपूर्ण कहा जाना चाहिए कि 'खड़ी बोली हिंदी कविता का मूल चरित्र ही भारतीय रहा है।' इसके उदाहरणस्वरूप समकालीन कविता के कुछ प्रतिनिधि कवियों रघुवीर सहाय, शमशेर

बहादुर सिंह, असद जैदी, केदारनाथ सिंह, राजेश जोशी, अरुण कमल, मंगलेश डबराल, स्वप्निल श्रीवास्तव, देवी प्रसाद मिश्र, विनोद दास आदि कवियों की कविताओं को सामने रखते हैं। किताब का यह निबंध हिंदी कविता को समझने का एक नया दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है।

मुक्तिबोध ने कहा था- साहित्य का अध्ययन एक प्रकार से मानव सत्ता का अध्ययन है। अतएव जो लोग केवल ऊपरी तौर पर साहित्य का विहंगावलोकन अथवा समाजशास्त्रीय निरीक्षण कर चुकने में अपनी इति-कर्तव्यता समझते हैं वे एकपक्षीय अतिरेक करते हैं...आवश्यकता तो इस बात की है कि आलोचना में ऐतिहासिक, समाजशास्त्रीय तथा मनोवैज्ञानिक सौंदर्यात्मक विवेचना की संपूर्ण एकात्मता रहे। (साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका - मैनेजर पांडेय, पृ.63)। जितेंद्र श्रीवास्तव की आलोचकीय चिंता को मुक्तिबोध की 'चिंतना' के केंद्र इन 'बहुपक्षों' की 'एकात्मता' के आलोक में देखा जाना चाहिए। एक ही साथ कविता के रूप, अंतर्वस्तु, सौंदर्यशास्त्र, विचारधारा और विमर्शों को समझना-बूझना तथा समकालीन कविता के संदर्भ में उसके नए अर्थों के विस्तार तक पहुंचने का उद्यम किसी साधारण आलोचकीय क्षमता के जरिये संभव नहीं है। आलोचक ने वस्तुतः इन सब को एक सूत्र में पिरोने की कोशिश की है जिसमें वे सफल भी हुए हैं। किताब के 'दलित जीवन और कविता' तथा 'स्त्री-दृष्टि और कविता' शीर्षक निबंध समीक्ष्य किताब के लिए एक उपलब्धि की तरह हैं।

दलित कविता पर हीरा डोम से प्रारंभ करके बिल्कुल नए दलित कवियों तक एक लंबा आलेख है। देवेंद्र कुमार बंगाली पर हिंदी आलोचना में न के बराबर लिखा गया है। दलित आलोचक भी उन्हें लगभग भूल ही जाते हैं जबकि उनकी कविताओं में दलित जीवन की गंभीर चिंताओं को स्वर दिया गया है। उनका स्मरण करता आलेख मुख्यधारा

'अंधरे में' का अंधेरा प्रकृति की विवेकहीनता का प्रतीक है

की आलोचना में भुला दिए गए महत्वपूर्ण रचनाकारों के पुनर्संधान की कोशिश है।

दलित रचनाकारों की यह शिकायत रही है कि हिंदी आलोचना का परंपरागत सौंदर्यशास्त्र दलित कविता के आंतरिक सौंदर्य को समझ पाने में नाकाम रहा है। इन्हीं चिंताओं पर विचार करते हुए किताब में हीरा डोम की विरासत के जरिये कविता के नए सौंदर्यशास्त्र की आवश्यकता पर बल दिया गया है। जितेंद्र बिना किसी दो राय के यह मानते हैं कि 'हिंदी दलित साहित्य के सौंदर्यशास्त्र का एक अलग प्रारूप बन चुका है।' जितेंद्र श्रीवास्तव समूचे दलित साहित्य की ओर से उठाई जाने वाली इस मांग का जोरदार समर्थन करते हैं। उनका स्पष्ट मत है कि 'जैसे-जैसे चित्तवृत्तियों में बदलाव होता है, सामाजिक-सांस्कृतिक संरचना में हलचल पैदा होती है, नए ढंग का साहित्य रचा जाने लगता है, वैसे-वैसे नए सौंदर्यशास्त्र की जरूरत बढ़ती जाती है' (पूर्वोक्त, पृ.27)।

समकालीन हिंदी दलित कविता पर

विचार करते हुए जितेंद्र श्रीवास्तव लिखते हैं, 'साहित्य की सबसे प्रभावशाली और आत्मीय विधा कविता के विषय में यह याद रखना चाहिए कि कला कम हो लेकिन जीवन खूब हो तो कविता बन जाती है' (पूर्वोक्त, पृ.28) और इस कोटि में वे हिंदी की दलित कविताओं को रखते हैं। हीरा डोम की कविता में जितेंद्र श्रीवास्तव दोहरी गुलामी को झेलने के लिए अभिशप्त समाज की 'अनुभूति के तनाव' को प्रमुखता से देखते हैं। उनका मत है कि 'अनुभूति का यह तनाव' ही अगली पीढ़ी के कवियों ओमप्रकाश वाल्मीकि, श्योराज सिंह बेचैन, कंवल भारती, डॉ धर्मवीर व जयप्रकाश कर्दम आदि की कविता में अपना विस्तार ग्रहण करता है।

'स्त्री-दृष्टि और कविता' का वैचारिक आधार लेते हुए तीन आलेख और रघुवीर सहाय की कविता में स्त्री-जीवन को रेखांकित करता एक आलेख इस किताब के महत्व को बढ़ा देते हैं। ऐसा बहुधा कम ही होता है कि अस्मितामूलक विमर्शों पर बात करते हुए कोई आलोचक इन विमर्शों के विविध पक्षों पर विस्तार से अपनी बात रखे। इस किताब की विशिष्टता यही है कि इसमें समकालीन विमर्शों पर प्रचलित ढंग की टिप्पणियां नहीं की गई हैं, वरन विमर्शों की सैद्धांतिकी में जाकर 'समकालीन कविता' में व्याप्त उसके विस्तार की सूक्ष्म जांच-पड़ताल भी की गई है। 'साहचर्य और समझ का नया सौंदर्यशास्त्र' शीर्षक अध्याय हिंदी की समकालीन 'स्त्री कविता' के सामर्थ्य की पड़ताल है।

आलोचक 'कवयित्रियों की प्राणवान उपस्थिति' को स्वीकार करते हुए उनकी सक्रियता को न केवल आवश्यक मानते हैं बल्कि स्पष्ट करते हैं कि समकालीन कविता परिदृश्य में कई 'कवयित्रियां तो ऐसी हैं जिनका नाम न लें तो महत्वपूर्ण कवियों की कोई सूची पूरी न होगी' (पूर्वोक्त, पृ.49) और इन्हें भी केवल स्त्री-विमर्श के कारण इस सूची में नहीं रखा गया है, बल्कि इनकी

कविताओं पर भी मनोयोग पूर्वक विस्तृत आलेख लिखे गए हैं। जितेंद्र श्रीवास्तव स्वयं एक महत्वपूर्ण कवि हैं और हिंदी कविता की युवा पीढ़ी के अधिकांश कवि उनके समकालीन भी हैं। वरिष्ठों या कनिष्ठों पर लिखना उतना कठिन नहीं होता जितना कठिन है अपने समकालीन पर लिखना। अपने समकालीन पर लिखते हुए परस्पर राग-द्वेष और रचनात्मक कुंठा का आलोचना दृष्टि पर हावी हो जाना कोई बड़ी बात नहीं है। यह संतोष का विषय है कि जितेंद्र श्रीवास्तव अपनी आलोचना में इन व्यक्तिगत आग्रहों को त्याज्य ही मानते हैं और इनके प्रति सतर्क भी रहते हैं।

कविता किसी भी रचनाकार की हो यदि उसमें मनुष्यधर्मी चेतना, जन प्रतिबद्धता और मानवीय अनुभूतियों का खरापन है तो आलोचक के लिए वह कविता सहज ग्राह्य है। युवा कवियों की कविता शीर्षक से आठ आलेख हैं, जिनमें युवा कविता के विभिन्न स्वरो को रेखांकित-विवेचित किया गया है। अष्टभुजा शुक्ल, सदानंद शाही, श्रीप्रकाश शुक्ल, पवन करण, बोधिसत्व, विमल कुमार, वसंत त्रिपाठी, अशोक पांडे और हेमंत कुकरेती जैसे अपने समकालीन कवियों के साथ ही बिल्कुल नए कवि मनोज कुमार झा, आत्मा रंजन, विमलेश त्रिपाठी, यतीन्द्र मिश्र आदि पर भी इनके आत्मीयतापूर्ण व गहन आलोचकीय विवेक संपन्न आलेख हैं।

कहना न होगा कि समकालीन कविता को उसकी बहुपक्षीय विविधताओं के साथ समग्रतापूर्वक व्याख्यायित करने का गुरुतर भार उठाने वाली ऐसी आलोचना पुस्तकों का स्वागत होना चाहिए। कवि होने के नाते भी कविता की आलोचना में आलोचक का मन खूब रमा है। इस किताब की सार्थकता केवल इसमें निहित नहीं है कि यह समकालीन कविता को समझने का नया दृष्टिकोण प्रस्तुत करती है बल्कि इस किताब के जरिये समकालीन कविता की आलोचना का एक नया सौंदर्यशास्त्र भी निर्मित होगा। ■

नवल किशोर की एक कलाकृति

रचनात्मक श्रेष्ठता ने इन्हें समकालीन कविता में प्रतिष्ठित किया है। अगर हम समकालीन कवियों की एक मुकम्मल सूची बनाना चाहें तो ममता कालिया, अनामिका, अर्चना वर्मा, सविता सिंह और सुमन केशरी इत्यादि को छोड़ने की कल्पना भी नहीं कर सकते। बकौल आलोचक 'इस तरह की कविताएं समाज को मिलने वाली नई आंख हैं। ऐसी आंख जिस पर भ्रम का कोई पर्दा नहीं है।' (पूर्वोक्त, पृ.49)। हिंदी कविता के वरिष्ठ कवयित्रियों के साथ ही अनेक नवोदित कवयित्रियों पर भी आलोचक की दृष्टि पहुंची है। अनामिका, इन्दु जैन, अनीता वर्मा, सुमन केशरी और अजंता देव की कविताओं पर 'नई इबारत के पक्ष में' शीर्षक से विस्तारपूर्वक लिखा गया है।

हिंदी के वरिष्ठ कवियों केदारनाथ सिंह, चन्द्रकान्त देवताले, ए.अरविंदाक्षन, ऋतुराज, अशोक वाजपेयी, कमलेश, भगवत रावत,

मदन कश्यप और लीलाधर मंडलोई पर पृथक-पृथक आलेख लिखे गए हैं। अपने समय के दारुण सच, विडंबनाओं और तमाम विरोधी परिस्थितियों के बीच सृजनरत कवियों को जितेंद्र स्वप्नदर्शी मानते हैं। उनका विश्वास है कि-'कविता उम्मीद का दूसरा नाम है। प्रत्येक कवि अपनी कविता में अपने ढंग से अपनी सामर्थ्य के मुताबिक उम्मीद का सृजन करता है।'

केदारनाथ सिंह की कविता पर बात करते हुये उन्हें 'समकालीन हिंदी कविता में काव्य तत्व और जीवन की गड़गड़ समझ' का कवि मानते हैं। हिंदी कविता की वरिष्ठ पीढ़ी वस्तुतः अपने लोकधर्मी स्वरूप और सूक्ष्म जीवन अनुभूतियों के जरिये कविता के शीर्ष मानदंडों का सृजन कर चुकी है, जिन पर खरा उतरने की जिम्मेदारी नवतर कवियों के लिए चुनौती की तरह है।

समीक्ष्य किताब में युवा पीढ़ी की

भाषा की ज़मीन और हिंदी-उर्दू की भाषा-परंपरा

■ अजितकुमार

वरिष्ठ आलोचक

संपर्क : 166, वैशाली,
पीतमपुरा, दिल्ली-110034

फिराक गोरखपुरी की एक मशहूर रुबाई का भाव यह है कि वे अकसर एकांत में सोचा करते हैं कि सदियों तक जीवित-जाग्रत रहने वाली सभ्यताएं आखिरकार देश-काल के रेगिस्तानों में क्यों खो जाया करती हैं? इस सोच का संबंध जितना यूनान, मिस्र, मोहनजोदड़ो आदि विश्व की महान संस्कृतियों से है, उतताया, हर रोज सुबह आकर वे पेड़ में फले कटहलया कभी सतयुग रहा होगा और क्या आदिम समानता से मनुष्य का पतन गुलामी और गैर-बराबरी की दिशा में अनिवार्य था?

जाबिर हुसेन की कथा डायरी पढ़ते समय जहां खत्रियों का वह कस्बा 'मौरावां' बार-बार याद आया, उस बेगम को भुला सकना मुश्किल हुआ, जिसके शौहर ने पूरी सुहागरात किसी गैर-औरत के साथ बिता दी ... और खकों द्वारा हिंदी के तत्समीकरण या संस्कृतीकरण पर बल दिया गया, वहां जाबिर हुसेन ने संभवतः भाषा विषयक उस आदर्श को अपनाया, जो भाषिक दायरों और संभावनाओं के विस्तार-प्रसार में यकीन करता है।

इस मामले में वे प्रेमचंद से भिन्न हैं, जिनकी उर्दू में लिखित कहानियां शुरू में भोंडे हिंदी अनुवाद के ज़रिए पाठकों तक पहुंचती थीं, और जिनमें स्वाभाविकता तभी आ सकी जब प्रेमचंद उर्दू में लिखना छोड़ हिंदी में बाकायदा आ गए।

दरअसल जाबिर हुसेन की राह ऐसे तमाम लेखकों से अलग रही, जिन्होंने अहिंदी भाषी होते हुए भी हिंदी को अपने लेखन की भाषा बनाया, मसलन अज्ञेय, अशक, यशपाल, प्रभाकर माचवे, मोहन राकेश तथा कितने ही अन्य जो हिंदी अपनाने के बाद अपनी मातृभाषा की ओर वापस नहीं लौटे। इससे भिन्न, जाबिर हुसेन की यह भाषा-नीति आकर्षक है कि अपनी भूमि पर टिकते हुए वे हिंदी-उर्दू को एक ही भाषा परंपरा का हिस्सा समझते हैं। ■

पुस्तक : ये शहर लगै मोहे बन
लेखक : जाबिर हुसेन
प्रकाशक : राजकमल
प्रकाशन, नई दिल्ली
प्रकाशन वर्ष : 2014,
मूल्य : ₹300

जे पी त्रिपाठी की एक कलाकृति

1857 के गदर में अंग्रेजों
के खैरखाह, वहां के
खत्रियों को जो जागीरें दी
गई थीं, उनके बलबूते वहां
राजाओं, त ऐसे भी बचे
जो वहीं अटके रह गए थे।

स्थगित जीवन-मृत्यु का विमर्श!

■ प्रकाश कांत

कथाकार एवं आलोचक

संपर्क : अ

बुदेलखंड का एक बड़ा गांव लुगासी ब्राह्मणों के वर्चस्व वाला। बब्बा मतलब अयोध्या प्रसाद वल्द भगवती पांडे ब्राह्मणों के अघोषित नेता। चैरासी साल के बुजुर्ग। तीन बेटे- गप्पू, नन्ना और गोपी! बड़ा बेटा गप्पू गांधीवादी रिटायर्ड शिक्षक। छोटा कानपुर की बैंक में अधिकारी और उसकी पत्नी कान्वेंट में शिक्षिका! बहुत सारे नाती-पोतों वाले बड़े कुनबे के मुखिया बब्बा। पत्नी कई सालों से लकवे का शिकार। उठने-बैठने, बोलने, खाने-पीने से लाचार। बरसों से बिस्तर पर। पूरी तरह बड़ी बहू सावित्री पर निर्भर! रज्जन- बब्बा का बड़ा पोता घर का अघोषित कर्ता-धर्ता! मुंहफट, मुंहजोर और लटैत। बब्बा कैसर के मरीज। अपने जानलेवा मर्ज और आसन्न मृत्यु से अवगत। लेकिन बेखौफ। मृत्युभय से मुक्त। बिंदास। जीवन-मृत्यु, सुख-दुःख वगैरह को लेकर उनका अपना दर्शन। '.....जे स्साली जिंदगी आखिर होती क्या है..... जिंदगी को समझबे के लाने कोई किताब नहीं पढ़नी पड़ती भैया; जिंदगी जीनी पड़ती है। जिंदगी को ठीक से समझ गये तो फिर सुख-दुख की जे बातें भूल जाओगे। / जिंदगी सुख के पीछे एक चूतियाचंदन वाली दौड़ है। यह कभी खत्म नहीं होती.....। / सच्ची बात जैसी भी कोई चीज कहीं है ही नहीं। न कुछ सच है, न झूठ, न तो कहीं दुख है न कोई सुख.....'

बब्बा अपने को देखने आये डॉक्टर से इस तरह की बहस करते ही मिलते हैं। बहस के बीच लुगासी की परंपरा के मुताबिक गालियों का बतौर विशेषण उपयोग अचूक ढंग से करते हैं। यही बब्बा एक रात नींद में ही गुजर जाते हैं। उपन्यास 'हम न मरब' (ज्ञान चतुर्वेदी) एक तरह से यहां से शुरू और बब्बा की मृत्यु के पांचवें दिन शोक में शामिल होने आये पचासों तरह के रिश्तेदारों के लौटने पर खत्म होता है। रिश्तेदार जिन्हें बब्बा की

तेरहवीं पर फिर आना है। तीन सौ सत्ताईस पृष्ठों वाले इस उपन्यास की कुल कथा बब्बा की मृत्यु के बाद के इन चार-पांच दिनों की ही है। इस कथा में पचासों तरह के दूर-पास के रिश्तेदारों जिनमें बूढ़े-बच्चे, युवा, स्त्री-पुरुष सभी हैं। उनका शोक में सम्मिलित होने के लिए आना, लम्बी शवयात्रा के बाद बब्बा का बेतवा के किनारे स्थित श्मशान में पूरे कर्मकांड के साथ दाह-संस्कार होना वगैरह के अलावा भी बहुत कुछ है। पूरे खानदान के पुरुषों के मुंडन में लगनेवाली देर, स्त्रियों के साबुन की बट्टी या बच्चों के खाने-पीने को लेकर होने वाले झगड़े, बूढ़ों की बीमारियां, स्त्रियों का शोक विलाप, पुरुषों के बीच होनवाली फुरसती-फालतू बातें, गरुड़ पुराण सहित अनेक प्रकार की वक्तकाटू जरूरी-गैरजरूरी धार्मिक चर्चाएं, धंधा बन चुकी राजनीति, सोसायटी के पैसों की हेराफेरी करने की योजनाएं इत्यादि! लेकिन सबसे महत्त्वपूर्ण है इसी अवधि में शुरू हुई बँटवारे की फुसफुसाहट और चर्चा! इसके अलावा नन्ना का मृत बब्बा की जनेऊ में बंधी रहनेवाली उनके हमेशा बंद रहनेवाले कमरे की चाबी निकाल लेना और परिणामतः गोपी की पत्नी का उस कमरे के ताले को सिल कर देना! ये दोनों चीजें पहले अर्थात बब्बा की अंत्येष्टि के दिन ही घटित होती हैं। नतीजतन घर में शोक (!) के बीच एक खास तरह का तनाव घिर आता है। खासकर गोपी, नन्ना और उनकी पत्नियों के बीच! गांधीवादी बड़ा भाई गप्पू और अम्मा की हर तरह से सेवा करनेवाली उसकी पत्नी सावित्री इस सब से एक तरह से निर्लीप्त हैं। उनका बेटा रज्जन जरूर इस सबको लेकर तैश में है। रज्जन उपन्यास में कथानायक की तरह उभरता है। सारे घटनाक्रम में सक्रिय! उसकी बात-बात पर गालियां, अश्लील फब्तियां, टिप्पणियां और चुटकियां कुल जमा चार-पांच दिनों के सारे घटनाक्रम का अहम हिस्सा

पुस्तक: हम न मरब
संपादक: ज्ञान चतुर्वेदी
प्रकाशक: नई दिल्ली
प्रकाशन वर्ष: 2014
मूल्य: ₹ 350

नवल किशोर की एक कलाकृति

हैं। वह अपने गांधीवादी और 'गऊ' समझे जानेवाले बाप के इस गऊपन से बेहद नाराज है। 'देखिए, बाप अपनी जगह और सच्ची बात अपनी जगह। सच्चाई कभी जे लिहाज नहीं करती है कि बाप की बात हो रही है कि पड़ोसी की।.....हमारे पिताजी जैसे आदमी तो जब एक बार गऊ बनते हैं तो दिनों दिन और भी गऊ होते चले जाते हैं। बाप अगर महापुरुष निकल जाये तो संतान की ऐसी-तैसी हो जाती है। '(रज्जन) जब कि खानदान के रामजी चौबे जैसे कुछेक रिश्तेदार गप्पू के इस गऊपन और गांधीवादी होने के प्रशंसक हैं साथ ही उन्हें लेकर चिंतित भी! खुद बब्बा भी अपने जीवित रहते गप्पू को लेकर चिंतित बने रहे

और उन्हें लताड़ते भी रहे। रज्जन का बेटा अभय भी उसी जैसा गाली-गलौच में दक्ष और लटैत किस्म का है।

बप्रतीक्षित और संभावित बंटवारे की चर्चा शोक में सम्मिलित होने आये रिश्तेदारों के अलावा गांववालों में भी है। रोमांच और हंगामे का इंतजार! तमाम 'आलतू-फालतू, जरूरी-गैरजरूरी और फुरसती' बातों के बीच बंटवारे का जिक्र आता रहता है। बंटवारे के अलावा बुढ़ापा, बीमारी, अध्यात्म, धार्मिक फंतासियों का भी जिक्र खूब है। आपसी मसखरी और टांगखिंचाई भी काफी है। एकदम जीवंत रूप में!

उपन्यास का अंत बड़ी बहू के सामने

अम्मा के उस आत्मविलाप-प्रलाप पर है जिसमें वह बंटवारे में अपने लिए उजाले वाला बब्बा का कमरा मांगती है ताकि आनेवाले यमदूतों को उजाले में वह आसानी से दिखाई दे सके और वे उसे अपने साथ ले जाकर मुक्ति दे सकें। अम्मा अपने 'स्थगित जीवन और स्थगित मृत्यु' से तंग आ चुकी है। अपनी विलंबित मृत्यु को लेकर त्रस्त है। इतनी कि उन्हें लगता है कि वह कभी नहीं मरेंगी। क्योंकि वह जी भी कहां रही हैं! 'जो जीता है वही तो मरता है न बिनू? जब हम जी ही नहीं रहे तो मरेंगे कैसे!' कबीर की कविता का यह अपना एक पाठ है। 'हम न मरिहैं / मरिहैं संसारा!'

उपन्यास के शुरू में बब्बा का मृत्यु को

लेकर अपना एक सोच है और उपन्यास के अंत में अम्मा का एक! उपन्यास के इस आखिरी हिस्से में ज्ञान का व्यंग्यकार स्थगित है। वहां एक गहरी करुणा है। जिस तरह उनके दूसरे उपन्यास 'बारामासी' में मां के प्रसंग में है। यह व्यंग्य की भी अपनी सीमा है। हालांकि एक दूसरे स्थान पर बंटवारे के प्रसंग में अम्मा के सावत्री से किये प्रश्न में गहरा कारुणिक व्यंग्य है जिसमें वह जानना चाहती हैं कि बंटवारे में वह और उनका वह बर्तन किसके हिस्से में आएगा जिसमें बिन्नु (सावित्री) उनसे पेशाब करवाती है!

उपन्यास में इस तरह के सहज (और कारुणिक भी) व्यंग्य कई जगह आए हैं। पिचहत्तर-अस्सी साल पार किये बूढ़ों पर इनसे अघाये हुए परिवारवालों द्वारा की गई टिप्पणियां इसी तरह की हैं। 'वैसे घर में इस तरह की पकी उम्र के बूढ़े से कुछ लोगों को उम्मीद और भय दोनों ही रहते हैं। कुछ लोगों को यह डर लगता है कि ये इस बार की कड़ाके की सर्दी को निकाल भी पाएंगे या नहीं? तो कई बार कुछ घरों में यह आशा सी रहती है कि पहले तो खैर निकाल ले गये, पर इस बार की सर्दी निकालना कठिन होगा क्योंकि एक तो चिल्ला जाड़ा पड़ रहा है दूसरा यह भी कि बाबूजी पिछले एक साल में काफी ढीले भी हुए हैं। कई बार न तो भय होता है, न ही आशा बल्कि उन लोगों के चेहरे पर एक शिकायत का भाव-सा रहता है कि यार इनका कुछ वैसा भी कभी होगा कि नहीं जैसा इनकी उम्र के लगभग सभी का कभी का हो चुका?'

'हम न मरब' ज्ञान चतुर्वेदी का 'नरक यात्रा', 'बारामासी' और 'मरीचिका' के बाद चौथा व्यंग्य उपन्यास है। और अपने पिछले तीन उपन्यासों की तरह ही काफी बड़े आकार-प्रकार का है। चारों ही उपन्यासों में व्यंग्य का एक जैसा निर्वाह हुआ है। यह इसलिए महत्वपूर्ण है कि पिछले पूरे चार दशकों में ज्ञान का व्यंग्य स्तंभ लेखन भी

'अंधेरे में' का अंधेरा प्रकृति की विवेकहीनता का प्रतीक है। यह विवेकहीनता दो स्तरों पर है- सामपुरुष' है।

नियमित रूप से जारी रहा है। वे पत्र-पत्रिकाओं में नियमित रूप से अपने व्यंग्य कॉलम लिखते रहे हैं। आमतौर पर कॉलम लेखन समय और ऊर्जा का इस कदर दोहन कर लेता है कि उपन्यास जैसी बड़ी चीज के लिए ज्यादा कुछ बचा नहीं रह जा पाता। ज्ञान बचाए रह पाते हैं यह खास बात है। तादाद के साथ-साथ गुणवत्ता से बिना कोई समझौता किए! यह बात समकालीन व्यंग्य लेखन में उन्हें विशिष्ट भी बनाती है। 'राग दरबारी' जैसे कुछेक व्यंग्य उपन्यासों के अलावा हिंदी में व्यंग्य उपन्यासों की जो कमी बतायी जाती है ज्ञान उसे अपने तर्द पुराने का काम करते हैं।

ज्ञान के पास अपनी एक विशिष्ट व्यंग्य दृष्टि है। बुनियादी महत्त्व व्यंग्य दृष्टि का ही होता है। कम से कम सार्थक, गंभीर और गहरे व्यंग्य के लिए तो ऐसी दृष्टि का होना और भी जरूरी होता है। सिर्फ भाषा तक सीमित व्यंग्य बहुत दूर तक नहीं जाता। बाजवक्त ऐसा व्यंग्य शब्दों की बाजीगरी

बन कर रह जाता है। ज्ञान ऐसी बाजीगरी से बचते हैं। बल्कि अपने व्यंग्य लेखों और उपन्यासों में वे एक जवाबदेह व्यंग्य चेतना के साथ नजर आते हैं। साथ ही अपनी भेदक और गहरी मारक व्यंग्य दृष्टि के बावजूद अनावश्यक रूप से आक्रामक भी नहीं होते। व्यंग्य को लेकर उनके यहां कई तरह के प्रयोग हैं। लेख और उपन्यास दोनों में! खास बात यह कि इतनी तादाद में लिख रहे होने के बावजूद उनके यहां दोहराव नहीं है। 'हम न मरब' का बड़ा हिस्सा संवादात्मक है। कहना चाहिए कि पूरी कथा संवादों के जरिये ही सामने आती है। बुंदेलखंडी फ्लेवर वाले संवादों में ज्ञान अपने व्यंग्यकार के लिए काफी स्पेस निकालते हैं और उसका पूरा-पूरा दोहन करते हैं। बोलियों की एक खासियत उनमें अंतर्निहित स्वाभाविक, महीन और गहरी व्यंग्यात्मकता हुआ करती है। जो आती है लोक जीवन में मौजूद रहती आयी स्वाभाविक व्यंग्यदृष्टि से! लोक जीवन में जो एक खास तरह का हास्य एवं व्यंग्य बोध हुआ करता है वह लोक भाषा में अपने-आप उभर कर आता है। 'हम न मरब' की भाषा को बतौर इसकी मिसाल देखा जा सकता है। बात-बेबात गाली, अश्लील लगती टिप्पणियां नागर बोध के पाठक को असुविधा जनक लग सकती हैं। लेकिन लोक जीवन का वह सब सहज हिस्सा है। जो कि 'हम न मरब' के लोक जीवन का भी है। ज्ञान इसके जरिए अपने व्यंग्य के लिए काफी सुविधा जुटाते हैं। वे कुछ लोगों की टाइप हो चुकी लेखन शैलियों पर भी बहुत महीन ढंग से चुटकियां लेते हैं। खासकर भाषिक मेनेरिज्म पर! जीवन से अघायापन, न मर पाने की बेबसी और मरने से बचने की गिलबिली इच्छा इन तीनों पर 'हम न मरब' गहरा व्यंग्य करता है। ऐसे में जाहिर है बकौल प्रभु जोशी यह 'उपन्यास हिंदी गल्प में विशिष्ट कृति की तरह याद किया जाएगा।' ठु ■

उलुपी: हिंदी और असमिया का सहकार संबंध

■ कृपाशंकर चौबे
प्राध्यापक एवं आलोचक

संपर्क: कोलकाता

निःसंदेह मुक्तिबोध
वामपंथ ।

पूर्वोत्तर की चार राष्ट्रीय तथा 53 जनजातीय भाषाओं के साहित्य के बारे में हिंदी जगत बहुत कम जानता है अथवा नहीं जानता। पूर्वोत्तर की भाषाएं भी मुख्यधारा की भाषाएं हैं पर उन भाषाओं के साहित्य की हिंदी में जबर्दस्त उपेक्षा हुई है। इस उपेक्षा के खिलाफ जिस पत्रिका ने पिछले डेढ़ दशक के दौरान निरंतर रचनात्मक संघर्ष किया, वह 'उलुपी' है। वैसे गुवाहाटी से प्रकाशित हिन्दी दैनिक उत्तरकाल, पूर्वांचल प्रहरी, सेंटिनल और दैनिक पूर्वोदय भी यदा-कदा पूर्वोत्तर के साहित्य को हिंदी में अनूदित कर लाते रहे हैं किंतु सुचिंतित तरीके से हिंदी और पूर्वोत्तर खास तौर पर हिंदी और असमिया में भाषा सेतु बंधन का काम जिस पत्रिका ने किया है, वह 'उलुपी' ही है। कवि, व्यंग्यकार, अनुवादक व पत्रकार रविशंकर रवि के संपादन में निकलने वाली इस पत्रिका ने पूर्वोत्तर खासकर असमिया के बहुमूल्य साहित्य का हिंदी में अनुवाद प्रकाशित किया है। यह पत्रिका अठारहवें वर्ष में चल रही है।

पूर्वोत्तर के साहित्य और संस्कृति को हिन्दी पाठकों तक पहुंचाने के लिए रविशंकर रवि ने गुवाहाटी से 1997 में 'उलुपी' नामक पत्रिका का अपने दम पर संपादन-प्रकाशन प्रारंभ किया था। चूंकि यह पत्रिका पूर्वोत्तर से जुड़ी है इसलिए इसका नाम भी पूर्वोत्तर की महाभारतकालीन नगा युवती उलुपी के नाम पर रखा गया। उलुपी ने क्षेत्रीय स्वायत्ता के सवाल पर अपने पति को युद्ध के लिए ललकारा था। 'उलुपी' के माध्यम से रवि शंकर रवि असमिया की शताधिक कहानियां अब तक हिंदी में ला चुके हैं। 'उलुपी' के जिन विशेषांकों को आज भी याद किया जाता है, वे हैं- असमिया कहानी विशेषांक, अवनी चक्रवर्ती पर केंद्रित अंक, ज्योति अंक, असमिया साहित्य सभा विशेषांक, शीलभद्र विशेषांक, पूर्वोत्तर में हिंदी विशेषांक। असमिया के जिन

साहित्यकारों की रचनाओं से हिंदी जगत को उलुपी ने अवगत कराया, उनमें कुछ प्रमुख रचनाकार हैं- वीरेंद्र कुमार भट्टाचार्य, नवकांत बरुआ, शील भद्र, सैयद अब्दुल मल्लिक, नगेन सैकिया, चंद्र प्रकाश सैकिया, अतुनानंद गोस्वामी, भूपेंद्रनारायण भट्टाचार्य, देवव्रत दास, अरुण पटंगिया कलिता, कुल सैकिया, मनोज कुमार गोस्वामी, कौस्तुभ मणि सैकिया, जयश्री गोस्वामी, अर्चना पुजारी, राजीव बरुआ, उदय कुमार शर्मा, अनुभव तुलसी, रीता चौधरी, सौरभ कुमार चालिहा, होमेन बरगोहाई, नवारुण वर्मा, रवींद्र बोरा, सतीश चंद्र काकती, नलिनीधर भट्टाचार्य, नील मणि फूकन, तेजेश्वर चेतिया, गिरीश बरुआ, इस्माइल हुसैन, पोना महंत, रमेन कलिता, अहल्या गोगोई, विमल कुमार हजारिका, भवानी प्रसाद अधिकारी और विश्वनाथ बर्मन।

'उलुपी' के जरिए हिंदी के एक लाख से अधिक पाठकों तक रवि ने पूर्वोत्तर के साहित्य को पहुंचाया है। 'उलुपी' की इस भूमिका को रामविलास शर्मा, राजेंद्र यादव, अनुपम मिश्र, कमला प्रसाद, आशारानी वोहरा, डोमन साहू समीर से लेकर अरुण प्रकाश तक ने स्वीकार किया है। 'उलुपी' का प्रकाशन रवि के लिए कोई व्यवसाय नहीं, उनका सरोकार है। 'उलुपी' के पिछले अंक में तीन दिवंगत विभूतियों को श्रद्धांजलि अर्पित की गई है। ये विभूतियां हैं- संगीत सम्राट भूपेन हजारिका, असमिया की शीर्ष लेखिका मामोनी रायशम गोस्वामी और राष्ट्रीय-अंतरराष्ट्रीय फलक पर असमिया कला को नई पहचान देने वाले कलाकार शोभा ब्रह्म। इस संयुक्त विशेषांक में ऐसे आलेख हैं जिन्हें पढ़कर हिंदी के पाठक भी तीनों विभूतियों को जान-समझ सकते हैं। पूर्वोत्तर के साहित्य व वहां की संस्कृति को हिंदी में लाने के समानांतर रवि 'उलुपी' में पूर्वोत्तर के हालात पर लेख भी छापते रहे हैं ताकि राष्ट्रीय मीडिया में पूर्वोत्तर के बारे में

किए जा रहे एकपक्षीय प्रचार को काटा जा सके। रविशंकर रवि उन कारणों की पड़ताल करते हैं जिनके फलस्वरूप पूर्वोत्तर भारत का हिस्सा होकर भी कई बार भारत का हिस्सा नहीं लगता। पूर्वोत्तर के लोगों की कद-काठी, शक्ल-सूरत, उनकी संस्कृति, उनकी सामाजिक परंपराएं, रीति-रिवाज और उनकी भाषाएं शेष भारत से भिन्न हैं। भिन्न चेहरे-मोहरे के कारण पूर्वोत्तर के लोगों से अपने ही देश में वीसा दिखाने को कहा जाता है। इन्हीं सबके कारण पूर्वोत्तर के लोग भारत की विविधता, विशालता और बहुलता से सामंजस्य नहीं बिठा पाते। सामंजस्य नहीं बिठाने से ही पूर्वोत्तर से भारत की संप्रभुता को चुनौती भी मिलती रही है। रवि लिखते हैं- पूर्वोत्तर में उग्रवाद का इतिहास आधी सदी से भी अधिक पुराना है। आजादी के समय से ही नगालैंड और मणिपुर उग्रवाद की आग में सुलगने लगा था। मणिपुर में 1945 में पीपुल्स लिबरेशन आर्मी का गठन हो गया तो नगा नेता फिजो स्वाधीन नगालैंड की जिद करने लगे। नगालैंड और मणिपुर की आग बुझी भी न थी कि 1966 में मिजो नेशनल फ्रंट का गठन करके लाल डेंगा ने स्वतंत्र मिजोरम के लिए बगावत कर दिया। उधर बांग्लादेश से आए बंगाली शरणार्थियों की वजह से अपनी ही भूमि में अल्पसंख्यक हो गए त्रिपुरा के आदिवासियों ने अपने अस्तित्व की रक्षा के बंदूक उठाकर जंगल का रास्ता पकड़ा। अब उसी रास्ते पर बोड़ो समुदाय भी है।

उग्रवाद और बंदूक की विफलता को सबसे पहले लालडेंगा ने महसूस किया और 1986 में हथियार डाल दिया। त्रिपुरा के त्रिपुरा वॉलेंटियर फोर्स ने भी 1988 में समर्पण कर दिया, लेकिन दूसरे कतिपय गुट अभी भी सक्रिय हैं। पूर्वोत्तर में उग्रवाद का विस्तार महज दिल्ली की उपेक्षा से नहीं हुआ है, राज्य में सत्ता प्राप्त करने और

उग्रवादी संगठनों के बीच ताकतवर बनने की प्रवृत्ति भी इसके लिए जिम्मेदार है। मणिपुर में कुकी नेशनल आर्मी का गठन एन.एस.सी.एन. के हमले का जवाब देने के लिए किया गया। बोड़ो उग्रवादियों का मुकाबला करने के लिए असम के संधालों ने बिरसा कमांडो फोर्स और कोबरा लिबरेशन टाइगर्स का गठन कर लिया। मणिपुर में कुकी नेशनल आर्मी तथा एन.एस.सी.एन. के बीच और असम में एन.डी.एफ.बी. तथा बी.एल.टी. के बीच हुए खूनी संघर्ष में अब तक सैकड़ों निरीह लोग मारे गए। उत्तर के पहले प्रश्न होता है और उत्तर पूर्व भारत, शेष भारत के लिए आज भी क्यों प्रश्न बना हुआ है।

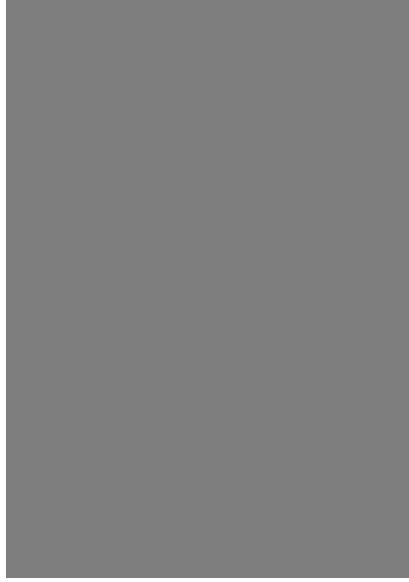
‘उलुपी’ में रवि ने लिखा है कि प्रकृति से प्रेम, सहज जिन्दगी, उन्मुक्त प्रेम और अतिथि सत्कार पूर्वोत्तर के लोगों की विशेषता रही है। लेकिन सवाल यह उठता है कि इस तरह के असंतोष का स्थायी समाधान क्या है। हत्याओं का आम जनता समर्थन नहीं करती। इसलिए सामाजिक बदलाव में विश्वास करने वाले उग्रवादियों को जंगलों में भटकने की बजाय आम जनता के बीच जाकर अपने मकसद को रखना चाहिए। ये पंक्तियां वही लिख सकता है जिसके हृदय में पूर्वोत्तर धड़कता हो। रवि के हृदय में पूर्वोत्तर धड़कता है। उन्होंने लक्ष्मीनाथ बेजबरवा समेत कई असमिया साहित्यकारों की कृतियों का गहरी तल्लीनता से हिंदी में अनुवाद किया है। असमिया से हिंदी में उनकी अनूदित पुस्तक नमकीन मोतियों में चर्चित किताब रही है। रवि द्वारा संपादित पुस्तक रूपकुंवर, ज्योतिप्रसाद आगरवाला, असम साहित्य सभा- साहित्य का महाकुंभ और असमिया की प्रतिनिधि कहानियां भी समादृत कृतियां रही हैं। इसके अलावा दूरदर्शन के कई सीरियलों के लिए असमिया से हिन्दी में अनेक पटकथाओं का भी रवि ने अनुवाद किया है। ■

**प्रतीक इतिहासस
संघर्ष की रचनात्मक
एवं सौंदर्यबोधीय
अभिव्यक्ति होती है।**

लेखकीय जोड़-तोड़ और खेमेबाजी से दूरी

डॉ. अशोकनाथ त्रिपाठी

संपर्क : साहित्य विभाग,
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय
हिंदी विश्वविद्यालय,
वर्धा-442005



स्वर मुद्रा

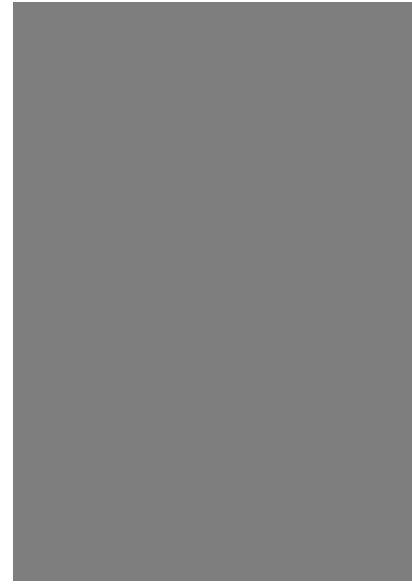
रजा फाउंडेशन हमेशा अपनी कलात्मक हलचल से जाना जाता रहा है। यह फाउंडेशन प्रेरणा श्रीमाली और यतीन्द्र मिश्र के संपादन में 'स्वर मुद्रा' नाम से संगीत और कला को समर्पित एक नई पत्रिका लेकर उपस्थित हुआ है। जिस पत्रिका में साहित्य संगीत कला मर्मज्ञ अशोक वापजेयी जी का परामर्श हो तो उसमें निखार आना स्वाभाविक ही है। इसका 'कालम' उप शीर्षक भी एक नएपन का इजहार करता है। स्थाई, उपज, बढ़त, विस्तार, कहन, नवाचार, नयनाभिराम, और सभामंडप नामक स्तंभों के साथ आलाप शीर्षक से संपादकीय दिया गया है। उसमें शास्त्रीय संगीत एवं नृत्य पर आधुनिक विमर्श के लिए एक नयी शब्दावली देने का वादा किया गया है। अगर इसके स्तंभों पर गौर करें तो स्थायी खंड में पूर्व पीढ़ी का स्मरण किया

गया है। इस खंड में 'बाला सरस्वती' पर सत्यजीत रे का एक ऐतिहासिक आलेख है जिसमें यह बताने का प्रयास किया गया है कि किस प्रकार से बाला सरस्वती पर फिल्मांकन किया गया। उमेश माथुर ने 'संगीत संत अलाउद्दीन खां' शीर्षक से अद्भुत प्रतिभासंपन्न खां साहब के जीवन और संगीत निष्ठा का विवेचन किया गया है। वे मैहर की मां शारदा के उपासक थे और गो-सेवा भी करते थे। जैनियों के सवाल पर उन्होंने अपने उत्तर में कहा कि 'स्वर ब्रह्म है'। इस पर जब उनसे कहा कि आप तो मुसलमान होते हुए अल्लाह की बंदगी करते हैं तो ब्रह्म को कैसे मानते हैं तब उनका जवाब था 'एको ब्रह्म द्वितीयो नास्ति।' इस आलेख में अलाउद्दीन खां के निजी जिंदगी के कई अनछुए पहलुओं को रेखांकित किया गया है। इसी स्तंभ में इन्द्राणी रहमान से उमा वासुदेव की बातचीत को भी शामिल किया गया है। जब इन्द्राणी से यह सवाल किया गया कि 'आपके जीवन, दुखों और सुखों को आपके नृत्य को कैसे प्रभावित किया है?' तो उनका उत्तर अद्भुत था, उन्होंने कहा कि 'मेरा नृत्य और जीवन के मेरे अनुभव एक-दूसरे के करीब-करीब चले हैं और मैं महसूस करती हूँ कि मेरे गहरे अनुभवों ने मुझे एक कलाकार के तौर पर भावनात्मक रूप से परिपक्व बनाया है' उपज स्तंभ के बहाने प्रख्यात सितारवादक पं. रविशंकर का आत्मकथा-अंश 'बैरागी', सुरश्री केसरबाई केरकर पर मृणाल पांडे का महत्वपूर्ण आलेख है। जहां बैरागी के बहाने स्वयं रविशंकर ने अपनी जीवन संगीत यात्रा का बयान किया है वहीं मृणाल पांडे ने केसरबाई केरकर के जन्म से लेकर उनके संगीत अवदान को रेखांकित किया है, 'बढ़त' स्तंभ मूर्धन्य

कलाविद उस्ताद अमीर खां पर केन्द्रित है जिसमें निखिल बनर्जी ने उनके संगीत पक्ष पर अपनी टिप्पणी दी है। एस.कालिदास ने उस्ताद पर संस्मरण साझा किया है: इंदौर के उस्ताद अमीर खां साहब की यादें।' अम्लान दास गुप्ता अमीर खां के ख्याल गायकी को आधुनिकता से जोड़कर देखते हैं। उनका यह मानना है कि समकालीन खयाल के क्षेत्र में अमीर खां को अक्सर सबसे महत्वपूर्ण माना जाता है। स्वर मुद्रा का यह अंक पुराने संगीतकारों और कलावंतों के साथ नए संगीतकारों को भी। संगीत और नृत्य पर अशोक वाजपेयी की टिप्पणियां इनके परस्पर को समझने में मददगार हो सकती है। वे कहते हैं कि 'शास्त्रीय संगीत में अतीत का उतना महत्व नहीं जितना परंपरा का परंपरा का। परंपरा वह है जो अतीत को समाहित करती हुई वर्तमान होती है'। कुल मिलाकर 'स्वर मुद्रा' का प्रवेशांक स्वर और संगीत के तमाम अनछुए पहलुओं से रूबरू कराता है। सुरुचि से प्रस्तुत और हिन्दी पाठकों के स्वाद को बदलने वाला यह प्रयास स्वागत योग्य है।

सेतु

साहित्य संस्कृति और कला को समर्पित यह अर्धवार्षिक पत्रिका पिछले 10 वर्षों से अपनी उपस्थिति बनाए हुए है इसके नए अंक के संपादकीय में देवेन्द्र गुप्ता ने हिंदी पर के पक्ष में अपनी बात के साथ उस पर हुई कुछ बहसों को रेखांकित किया है। अमरकांत को याद करते हुए 'विरासत' में उनकी कहानी 'डिप्टी कलकटरी' दी गई है। अमरकांत की कहानियों पर बलराम की टिप्पणी है जिसमें वह इस बात की ओर इशारा करते हैं कि अमरकांत सदैव लेखकीय जोड़-तोड़ और खेमेबाजी से अपनी दूरी बनाते हुए सृजन करते रहे। उनका यह भी मानना है कि अमरकांत प्रायः उपेक्षित ही रहे। उनकी रचनाओं पर



आलोचकों ने और आंदोलन धर्मी कथाकारों ने अपनी चुप्पी बनाए रखी। यदि उनके रचना कर्म को टटोला जाए तो 'जिंदगी और जोंक' 'देश के लोग', 'तूफान', जैसे बेहतरीन कहानी संग्रहों के साथ 'सूखा पत्ता', 'काले उजले दिन', 'बीच की दीवार' तथा 'इन्हीं हथियारों' से जैसे महत्वपूर्ण उपन्यास अमरकांत ने दिए हैं। अमरकांत को मध्य वर्ग का कथाकार माना जाता है, उन्होंने अपने रचनाओं में मध्यवर्ग और निम्न मध्यवर्ग की जीवन स्थितियों के सच्चे प्रामाणिक और विश्वसनीय चित्रण करते नजर आते हैं। 'पीपर पात सरिस मनडोला...' शीर्षक से डा आनंद पाटिल ने शमशेर को देखने का प्रयास करते हुए यह माना है कि 'शमशेर का काव्य संस्कृत की गद्यात्मक काव्य की परिपाटी के अनुरूप होने के बावजूद भी पद्यमय, संगीतमय और गेय है। शमशेर के इस गद्यात्मक काव्य को संगीत के लगभग सभी तालवाद्यों- साजो सामान के साथ गायी और बजाया जा सकता है। उन्होंने इसी आलेख में इस बात पर भी बल दिया है कि गेयता के लिए तुकबंदी की चलताऊ परिपाटी को ध्वस्त कर मुक्त छंद के रूप में एक वजनी परिपाटी कायम की है। हिंदी के प्रसिद्ध कवि 'विजेन्द्र' के रचना संसार को

रेखांकित करने काले अमीर चंद्र वैश्य का आलेख 'जीवन राग की त्रैजिक सिम्फनी' तथा कैलास आहलूवालिया का 'विजेन्द्र का लोक धर्मी जीवन दर्शन' दिया गया है। अमीर चंद्र वैश्य विजेन्द्र के कविता संग्रह 'मैंने देखा है पृथ्वी को रोते' के बहाने उनके लेखन को बताने का प्रयास किया है विजेन्द्र का पहला संग्रह 'त्रास' 1966 में प्रकाशित हुआ और आलोच्य कृति 'मैंने देखा है पृथ्वी को रोते' का प्रकाशन 2014 में हुआ है इस प्रकार अड़तालिस वर्षों की सृजन यात्रा में विजेन्द्र के तेइस काव्य संग्रह प्रकाशित हुए हैं। अगर ध्यान से देखा जाए तो यह दोनों आलेख कवि विजेन्द्र के रचना संसार का अवगाहन करने की एक दृष्टि प्रदान करते हैं। एस.एन. जोशी का आलेख शिमला नगर की पत्र पत्रिकाओं पर केंद्रित है जो कि किसी भी जिज्ञासु शोधार्थी के लिए महत्वपूर्ण माना जा सकता है साथ विभिन्न स्थायी स्तंभों में पठनीय सामग्री दी गई है।

पूर्वग्रह



कोई भी पत्रिका अपने एक खास वैचारिकी के कारण जानी जाती है। पूर्वग्रह का भी प्रायः वैसा ही इतिहास रहा है। यह पत्रिका लगभग सात दशकों से निरंतर

प्रकाशित होती आ रही है और इस पत्रिका ने अपने आलोचनात्मक प्रतिमान भी खड़े किए हैं। इस पत्रिका की एक और विशेषता है कि यह कभी भी वैचारिक प्रतिबद्धता से संलित नहीं रही। इसके पिछले कई अंक महत्वपूर्ण रचनाकारों, विचारकों, कलावंतों को समर्पित रहें। यह अंक भी हमारे समय के महत्वपूर्ण हस्ताक्षर कुंवर नारायण पर केंद्रित है। 29-31 जनवरी 2014 को कुंवर नारायण को केंद्र में रखकर एक गोष्ठी हुई थी। इस अंक में उस गोष्ठी में पढ़े गए कुछ आलेखों को भी शामिल किया गया है। यह अंक हिन्दी के वरिष्ठ कवि कुंवर नारायण की रचनाशीलता को समझाने में सहायक है। उल्लेखनीय है कि इस अंक के पूर्व भी कुंवर नारायण की प्रसिद्ध कृति 'वाजश्रवा के बहाने' पर केन्द्रित अंक प्रकाशित हुआ था और उस पर खूब चर्चा भी हुई थी। कुंवर नारायण के व्यक्तित्व को ध्यान में रखते हुए रमेश चंद्र शाह का आलेख 'जीवन का गहरा संसार: कुंवर नारायण का व्यक्तित्व' है। जिसमें उन्होंने यह बताने का प्रयास किया 'जो अनुभव जितना ही निजी और नजदीकी होता है, उसे लेकर सार्वजनिक रूप से मुखर होना उतना ही अटपटा और मुश्किल काम लगता है' 'वे 'तटस्थ नहीं' शीर्षक कविता के बहाने बात शुरू करते हैं।

'तट पर हूँ, पर तटस्थ नहीं
देखना चाहता हूँ
एक डगमगाती दुनिया को
डूबते सूरज के आधार से'

इसी कविता के आधार पर शाह कहते हैं कि 'कुंवर नारायण का कृतित्व, विहवल क्षणों' का और गहरे स्वीकार का अनूठा दस्तावेज है'। 'साधारण जीवन की असाधारण कविता' नामक आलेख में आलोचक विजय बहादुर सिंह मानते हैं कि कुंवर नारायण उस तरह के आधुनिक कवि नहीं हैं जो कविता और भाषा की विरासत से शत्रु जैसी कठोरता और उपेक्षा बरतते रहे

हैं। देखा जाए तो विजय बहादुर सिंह की यह बात कुंवर नारायण पर अक्षरशः लागू होती है कि उनके यहां न तो निषेध का कठमुल्लापन है और न स्वीकार की दुर्भाग्यपूर्ण अंधता है। कुंवर नारायण की पहली कविता 'ये पंक्तियां मेरे निकट' है जिसमें वे कहते हैं -

ये पंक्तियां मेरे निकट आयी नहीं
मैं ही गया उनके निकट

.....

मैं गया उनके निकट उनको बुलाने
गैर को अपना बनाने
क्योंकि मुझमें पिंडवासी
है कहीं कोई अकेली-सी उदासी
जो कि ऐहिक सिलसिलों से दूर
कुछ संबंध रखती उन परायी पंक्तियों
से

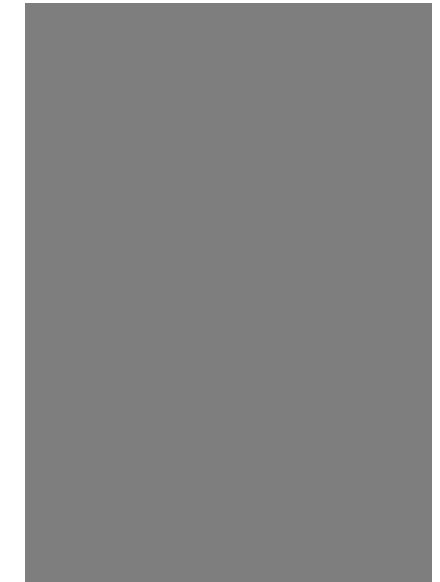
साथ वे कवि कर्म को व्याख्यायित भी करते हैं और कहते हैं-

और किसी गांठ भर मैं बांधता हूँ
किसी विधि से
विविध छंदों के कलावों से। -

इसी आलेख के बहाने विजय बहादुर सिंह यह भी कहना चाहते हैं कि कुंवर नारायण की कविता वैश्विक मनुष्य और लोक तांत्रिकता की ओर ले जाकर मनुष्य की वकालत करती है। उदयन वाजपेयी ने कुंवर नारायण के काव्य संसार को मिथकों से जोड़कर देखने का प्रयास किया है। कृष्णदत्त पालीवाल ने उन्हें 'अनेकार्थी पाठ के जादूगर कवि' के रूप में देखा है। उनका मानना है कि कुंवर नारायण ने पश्चिम के सभी महत्वपूर्ण विचारकों को ढंग से पढ़ा है समझा है पर दिमागी गुलामी किसी की भी स्वीकार नहीं की। मनोज कुमार पांडेय ने कुंवर नारायण की कहानियों की इकलौती किताब 'आकारों के आसपास' की भूमिका का उल्लेख करते हैं जिसमें वह लिखते हैं 'कहानी कहते समय मैं पाठक को यह यकीन दिलाने की कोशिश नहीं करता कि कहानी नहीं कह रहा हूँ, बल्कि जगह-जगह

पाठक को अपनी तरफ करके कहता चलता हूँ कि यह यथार्थ नहीं, सिर्फ कहानी है.... और मनोज ने यह माना है कि 'कुंवर नारायण की कहानियां मनुष्य की नियति का मुकदमा' पेश करने वाली कहानियां हैं। समग्रता में देखा जाए तो इस पूरे अंक में कुंवर नारायण की कविताओं के साथ उन्हें अनेक दृष्टिकोण से जानने समझने का सराहनीय प्रयास किया गया है।

नया ज्ञानोदय



नया ज्ञानोदय सम सामयिक गतिविधियों के प्रति हमेशा से सचेत रहा है। इसके इस अंक में 'बच्चों का विकास और साहित्य' पर प्रचुर सामग्री दी गई है। इसी के साथ 'बाल साहित्य- उपेक्षा और अपेक्षा' शीर्षक से कई महत्वपूर्ण लेखकों की टिप्पणियां भी हैं। संपादकीय में मंडलाई ने 'अक्षराम्भ' पर्व का उल्लेख किया है, इस पर्व की यह विशेषता है कि इसमें हजारों लोग अपने दो वर्ष की आयु के बच्चों को 'अक्षर शिक्षा' का संस्कार प्रदान करते हैं। इस पर्व की एक और विशेषता रेखांकित की गई है कि जो पालक अपने बच्चे को लेखक बनाने की कामना करते हैं उन्हें 'अक्षर-शिक्षा' मलयालम के लेखक प्रदान

करते हैं। इस परंपरा को स्थानीय के जगह सार्वत्रिक करने की भी बात कही गई। संपादकीय में ही बच्चों की शिक्षा और उत्थान में संलिप्त नोबल पुरस्कार से सम्मानित कैलास सत्यार्थी की टिप्पणी भी दी गई है जिसमें उन्होंने कहा है कि 'शांति का अभाव बच्चों के लिए अभिशाप है। बच्चों को शिक्षा की आजादी और शांति का वातावरण विकास के लिए सबसे अधिक आवश्यक है।' नोबल पुरस्कार सम्मानित 'नादीन गार्डीभर की बातचीत भी इस अंक में दी गई है। नया ज्ञानोदय विशेष के अंतर्गत 'हाइडल वर्ग में कबीर' शीर्षक से प्रो. केदारनाथ सिंह का एक व्याख्यान दिया गया है। उसमें स्थापना है कि कबीर की उपस्थिति देश में ही नहीं विदेश में भी है। बच्चों का विकास और साहित्य पर एकाग्र अंश में शेरजंग गर्ग कहते हैं कि बाल साहित्य लेखन एक गंभीर कर्म है और बाल साहित्य को गंभीरता से लेने की परंपरा विकसित नहीं हो पा रही है। क्षमा शर्मा का विचार है कि हर बार बाल दिवस के दिन बाल साहित्य पर कुछ चर्चाएं जरूर की जाती हैं लेकिन बाल साहित्य भी आज उतना ही उपेक्षित है जितना देश का बच्चा। अगर देखा जाए तो बच्चों के संदर्भ में नीतियों का भी अभाव है या उसका परिचालन ठीक तरीके से नहीं हो पा रहा है। इसके लिए यह आवश्यक है कि हम बाल साहित्य के लेखकों को प्रोत्साहन दें। योगेंद्र दत्त शर्मा का यह मानना है कि आज की सूचना प्रौद्योगिकी ने बच्चों को बड़ा तो बना दिया है लेकिन बाल-साहित्य ही एक मात्र विकल्प है जो उनके बचपन को सुरक्षित रख सकता है। विद्याबिंदु सिंह कहती हैं कि बाल साहित्य चाहे मौखिक परंपरा से प्राप्त हो या लिखित परंपरा से, सब का अपना महत्व है हमें प्राचीन संस्कृत साहित्य से लेकर आज तक के बाल साहित्य को सामने लाकर उसे युगानुरूप बनाने की जरूरत है। दिविक रमेश यह

सोचते हैं कि बाल साहित्य के लिए अभी बहुत कुछ करना शेष है। 'मोहम्मद अरशद खान' ने पत्रिकाओं और प्रकाशन संस्थाओं को आगे बढ़कर काम करने की सलाह दी। कुछ महत्वपूर्ण कवि जैसे मैथिलीशरण गुप्त, निराला, हरिऔध, सोहन लाल द्विवेदी, रामधारी सिंह दिनकर, महादेवी वर्मा, माखनलाल चतुर्वेदी, श्रीधर पाठक, सुभद्रा कुमारी चौहान, अज्ञेय, नागार्जुन, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, श्रीनाथ सिंह, गोपाल सिंह नेपाली, विष्णुकांत पांडे, द्वारिका प्रसाद माहेश्वरी, प्रकाश मनु, आरसी प्रसाद सिंह, प्रभा किरण जैन की बाल कविताएं इस बात की साक्षी हैं कि अपने समय के सभी महत्वपूर्ण कवियों ने बाल कविताएं लिखी हैं। 'बीज की आवाज' स्तंभ में सातवीं के छात्र अरिहंत हेमेंद्र की 'रेत' नामक कविता है तो ग्यारह वर्षीय अनन्या मोहन की कविता 'आखिर क्यों दी गई है जिसमें अनन्या एक सवाल खड़ा करती है-

एक चांद है।

एक सूरज है।

एक ईश्वर है।

फिर

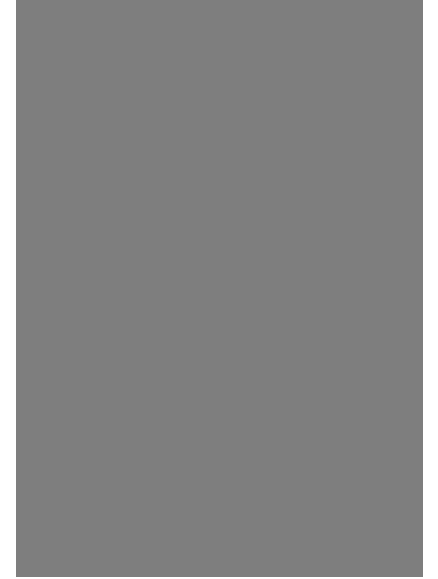
धर्म क्यों अनेक हैं?

आखिर क्यों?

इस उम्र में यह सवाल वाकई मन को झकझोरने वाला है। मुक्तिबोध की जयंती को ध्यान में रखकर राम निहाल गुंजन का आलेख 'मुक्तिबोध के प्रगीत काव्य का संदर्भ' मौजू है। नर्मदा प्रसाद उपाध्याय अपने आलेख 'भारतीय लघुचित्र: अपनी जड़ों की पहचान' में कहते हैं कि 'रंग और रेखाओं का मिलन सृष्टि के जन्म के पहले दिन से ही एक उत्सव के रूप में मानता चला आ रहा है।' रवींद्र त्रिपाठी ने 'गुलाबी गैंग' ने ज्यादा पैसा नहीं कमाया पर लोगों की चेतना को झकझोरने का काम जरूर किया है। अपने समय के बड़े अफसाना निगार कृशंन चंद्र के जन्म शताब्दी वर्ष को ध्यान में रखकर उनके आत्मकथा अंश

'मुझे वह सेब पसंद है' को दिया गया है। साथ ही साथ ख्वाजा अहमद अब्बास को भी याद किया गया है। शिव चरण वर्मा का नाटक 'काग के भाग बड़े सजनी', महावीर राठी की कहानी 'कद' एवं भारत पाक युद्ध की पृष्ठभूमि पर लिखी वीरेंद्र कुमार गौड़ का कहानी 'मां' पठनीय है।

उद्भावना



उद्भावना का यह संयुक्तांक इस कारण भी महत्वपूर्ण है कि इसमें हेमंत कुकरेती ने 'हिंदी बंग महिला' (राजेंद्र बाला घोष) से लेकर अमरकांत तक तेरह रचनाकारों की एक प्रतिनिधि कहानी दी है साथ ही साथ उन सभी रचनाकारों के चयनित रचनापर टिप्पणी भी दी गई है। इसे पढ़कर न केवल कहानी का आस्वादन किया जा सकता है वरन इन कहानियों के मूल तत्वों तक पहुँचाने में भी मदद मिलती है। 'कथाकार शानी के सामाजिक सरोकार' शीर्षक लेख में विश्वनाथ त्रिपाठी ने प्रतिनिधि कहानियों से तेरह वाक्य लेकर उसके विश्लेषण के बहाने इस बात पर बल दिया है कि डर या भय या दहशत शानी की कहानियों का प्रमुख भाव है। शानी की भाव-भूमि उनकी सामाजिक चेतना की

जांच-पड़ताल इस मनोविकार के सहारे की जा सकती है। जानकी प्रसाद शर्मा ने अशक की कहानी 'काकड़ा का तेली' पर विचार करते हुए कहा कि इस कहानी के जरिए हम यह जान जाते हैं कि कथाकार सार्थक कहानी के लिए किन चीजों को जरूरी समझता है। उनकी कहानियों से गुजरते हुए अशक की निजता समझ में आती है। हरिवंश राय ने यशपाल की कहानियों में सांप्रदायिकता विरोध और स्त्री-पुरुष संबंध देखने का प्रयास किया है। उनका मानना है कि विभाजन के बाद यशपाल ऐसे कहानीकार हैं जिनकी कहानियां सामाजिक विकास और मूल्यों को हमारे समक्ष रखती हैं। वे यह भी मानते हैं कि यशपाल अपनी कहानियों में बनी बनाई परंपराओं, नैतिकताओं पुरुषों की स्त्रियों के प्रति सोच, सामंती समाज मूल्यों और मान्यताओं पर प्रश्न चिह्न लगाते हैं। रमेश राजहंस ने हिंदी सिनेमा में परिवर्तन को देखने का प्रयास किया है। जिसमें उन्होंने मर्दानगी, फाइंडिंग फैनी, मैरी काम, हैदर पर टिप्पणी की है। हिंदी कहानी के बहाने कहानी और कहानीकारों को केंद्र में रखकर संयोजित किया यह अंक स्वागत योग्य है।

परिकथा

परिकथा के इस अंक की संपादकीय में 'विज्ञापन के पत्रे' शीर्षक से कुछ महत्वपूर्ण विचार बिंदुओं की ओर इशारा किया है जिसमें नई विज्ञापन नीति का स्वागत भी निहित है। पर अंततः 'साहित्य के लोकतंत्र की रक्षा उसके पाठक ही कर सकते हैं'। जन्मशती के बहाने कृश?न चंदर की कहानी 'जूता' और प्रो. अली अहमद फातमी का आलेख रोमान, हकीकत और कृश?न चंदर' दिया गया है। इसमें आलोचक गोपीचंद्र नारंग के कथन को उद्धृत किया गया है जिसमें वे कहते हैं



'कृश?न चंदर उर्दू अफसाने की परंपरा का एक ऐसा लायके एहतराम नाम है, जो जेहनों में बराबर सवाल उठाता रहेगा। कृश?न चंदर की अहमियत और दीन से उर्दू का कोई गंभीर पाठक इनकार नहीं कर सकता। उर्दू आलोचना के लिए कृश?न चंदर आज भी सवालिया निशान है। फातमी साहब कृश?न चंदर की रचनाओं पर टिप्पणी करते हुए लिखते हैं कि 'दरअसल कृश?न चंदर उन रचनाकारों में से हैं, जिनके बारे में हकीकत परस्त और रोमान परस्त की बहस बिल्कुल बेकार है। इनको आप एक लफ्ज में बयान नहीं कर सकते। बांग्ला उपन्यास 'गणदेवता' का रोहित राय ने पुनर्पाठ किया है। डॉ. सी. भास्कर राव ने राजकपूर की फिल्म 'जागते रहो' का पुनरावलोकन करते हुए उसे सामाजिक सिनेमा का शिखर स्वीकार किया। उनका यह मानना है कि इस फिल्म का विषय जितना जीवंत है उतना ही ज्वलंत भी। जाने माने आलोचक प्रो. अरुण होता ने विजय शर्मा की पुस्तक 'अफ्रो अमेरिकन साहित्य स्त्री स्वर' की समीक्षा 'अफ्रो-अमेरिकन

लेखिकाओं का रचना संसार' नाम से की है। उनका मानना है कि इस पुस्तक में अफ्रो-अमेरिकी स्त्री रचनाकारों की पृष्ठभूमि और उसके लेखकीय सरोकारों की विशद विवेचन है। जीत, रेहान पर पांच बेटे, जादू कहानी अच्छी लगी। जयश्री रॉय के उपन्यास 'इकबाल' पर ज्योतिष जोशी की जोरदार समीक्षा है जिसमें वे मानते हैं कि इसमें एक सुन्दर प्रेम कथा की विडंबनात्मक सच्चाइयों के साथ ही कश्मीर की त्रासदी को उकेरा गया है।

संदर्भित पत्रिकाएं :

- 1.स्वर मुद्रा भाग-1, अंक-1 जनवरी-जून 2014 संपादक- प्रेरणा श्रीमाली यतींद्र मिश्र, रजा फाउंडेशन, सी-4/139 लोउर ग्राउंड फ्लोर, सफदरजंग डेवलपमेंट एरिया, नई दिल्ली-110016 मूल्य-250/-
- 2.सेतु- 17, जुलाई-दिसंबर, 2014, संपादक- डॉ. देवेन्द्र गुप्ता, आश्रय, खलीनी, शिमला, 171002 (हि.प्र.) मूल्य- 100/-
- 3.पूर्वग्रह-146, जुलाई सितंबर 2014,सम्पादक-प्रेमशंकर शुक्ल भारत भवन, श्यामला हिल्स, भोपाल मूल्य- 30 रु.
- 4.नया ज्ञानोदय (जुलाई 2014) संपादक- लीलाधर मंडलोई, भारतीय ज्ञानपीठ, 18, इंस्टीट्यूशनल एरिया, लोधी रोड, पोस्ट बॉक्स-31113, नई दिल्ली-110003, मूल्य-30/-.
- 5.उद्भावना - अंक, 114-115, जुलाई-अक्टूबर 2014, संपादक अज्ञेय कुमार, ए-21, झिलमिल इंडस्ट्रियल एरिया, जी.टी. रोड, शाहदरा, दिल्ली-110095 मूल्य- 50 /-
- 6.परिकथा- नवंबर-दिसंबर 2014, संपादक - शंकर, परिकथा, 46, बेसमेंट, फेज-3, इरोज गार्डन, सूरजकुंड रोड, नई दिल्ली-110044, मूल्य- 30 /-

एम एफ हुसैन की एक कलाकृति

कोलकाता केंद्र का नया पता

विश्वविद्यालय का कोलकाता केंद्र पिछले एक अक्टूबर 2014 से पूर्वी क्षेत्र सांस्कृतिक केंद्र (इजेडसीसी) के परिसर में स्थानांतरित कर दिया गया है। इसका नया पता है-

क्षेत्रीय केंद्र

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
ऐकतान ईजेडसीसी, आईए-290, सेक्टर-3, साल्ट लेक, कोलकाता-700097

कोलकाता केंद्र की भावी योजनाएं

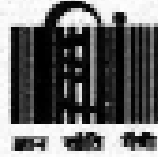
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय के कोलकाता केंद्र की स्थापना 02 मई 2011 को सार्क देशों को आपस में जोड़ने वाले सांस्कृतिक कारकों को बल पहुंचाने और पूर्वोत्तर भारत की भाषाओं के साथ हिंदी का संबंध प्रगाढ़ करने तथा उनसे साहित्यिक संबंध जोड़ने एवं हिंदी के संघीय स्वरूप को मजबूती देने के उद्देश्य से की गई थी। कोलकाता केंद्र का संस्थापक प्रभारी विश्वविद्यालय के एसोसिएट प्रोफेसर डा. कृपाशंकर चौबे को बनाया गया था।

कोलकाता केंद्र अपने स्थापना काल से ही भारत और सार्क के दूसरे देशों के बीच समन्वय तथा परस्पर सांस्कृतिक प्रभाव पर संवाद श्रृंखला चला रहा है। इसी तरह हिंदी और पूर्वोत्तर भारत की भाषाओं के बीच भी संवाद श्रृंखला कोलकाता केंद्र में चलाई जाती रही है। आरंभिक तौर पर पूर्वोत्तर भारत तथा सार्क देशों में साइबर पत्रकारिता की स्थिति के अध्ययन के लिए 2013-14 के शिक्षा सत्र से वेब पत्रकारिता में स्नातकोत्तर डिप्लोमा का नियमित पाठ्यक्रम प्रारंभ किया गया था।

कोलकाता केंद्र में 2014-15 के शिक्षा सत्र से एमए हिंदी, एम.फिल हिंदी (तुलनात्मक साहित्य) तथा अनुवाद में स्नातकोत्तर डिप्लोमा पाठ्यक्रम प्रारंभ किए गए हैं। हिंदी और पूर्वोत्तर की भाषाएँ: परस्पर संबंध उदाहरण के लिए हिंदी और काकबराक: परस्पर संबंध, हिंदी तथा बोडो: परस्पर संबंध पर एम.फिल स्तर पर तथा पीएचडी स्तर पर पूर्वोत्तर की भाषाओं की स्थिति, उदाहरण के लिए असमिया का अतीत और वर्तमान, बोडो का अतीत और वर्तमान, गारो भाषा का अतीत और वर्तमान, खासी भाषा का अतीत और वर्तमान, काकबराक भाषा का अतीत और वर्तमान, निशी भाषा का अतीत और वर्तमान आदि पर शोध कराने की योजना है।

2015-16 के शिक्षा सत्र से दक्षिण-पूर्व एशियाई अध्ययन, सांस्कृतिक अध्ययन, नाट्य कला व फिल्म अध्ययन, ललित कला तथा मानविकी के अन्य विषयों में एम.ए., एम. फिल तथा पीएचडी स्तर पर पाठ्यक्रम प्रारंभ करने की योजना है।

कोलकाता केंद्र की योजना बांग्ला, नेपाली, उड़िया तथा पूर्वोत्तर भारत और सार्क देशों के श्रेष्ठ साहित्य का हिंदी में अनुवाद कर प्रकाशित करने की भी है ताकि भविष्य में शोधार्थी हिंदी साहित्य के साथ उसका तुलनात्मक अध्ययन कर सकें।



महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा स्वामी सहजानंद सरस्वती संग्रहालय अपील

स्वामी सहजानंद सरस्वती संग्रहालय हिंदी के रचनाकारों की अमूल्य सामग्री संग्रहीत करने, उसे सहेज कर रखने और सुधी अध्येताओं व शोधकर्ताओं को उपलब्ध कराने के काम में जुटा है। सूचना मिलने पर सामग्री प्राप्त करने के लिए संग्रहालय अपनी ओर से संपर्क करता है और यदि उसे साहित्यकारों के परिजनों अथवा अन्य सुधी साहित्य सेवियों की ओर से सामग्री प्रदान किए जाने का प्रस्ताव मिलता है, तो उसे सहर्ष स्वीकार भी किया जाता है।

12 मई, 2012 को हिंदी के प्रतिष्ठित कवि शमशेर बहादुर सिंह की अधिकांश सामग्री डॉ. रंजना अरगळे ने संग्रहालय को प्रदान कर दी है, लेकिन शमशेर जी अपने जीवन काल में अनेक स्थानों पर रहे थे, अतः यह संभव है कि शमशेर जी ने अपनी कोई कविता, पेंटिंग या अन्य कोई सामग्री आप में से किसी को भेंट स्वरूप दी हो। यह भी संभव है कि शमशेर जी के जीवन-काल में ही उनकी कुछ सामग्री किसी के यहाँ छूट गई हो। अगर आप ऐसी तमाम सामग्री – पत्र, पांडुलिपियाँ, तस्वीरें, वस्तुएँ, पुरस्कार, हाथ से लिखा कोई पुर्जा, कोई स्मृति चिह्न, जो आपने अब तक अपने निजी संग्रह में सुरक्षित रखा हो, विश्वविद्यालय के संग्रहालय को देंगे, तो इससे व्यापक समाज लाभान्वित होगा और संग्रहालय आपकी इस भेंट से समृद्ध एवं गौरवान्वित होगा।

शमशेर जी की रचनावली प्रकाशन की प्रक्रिया में है। आपसे निवेदन है कि आप ऊपर संदर्भित कोई भी सामग्री शीघ्रातिशीघ्र विश्वविद्यालय को देने की पहल करें, ताकि उसका उपयोग रचनावली में किया जा सके। आपसे उपलब्ध हुई सामग्री आपके नाम के उल्लेख के साथ संग्रहालय में रखी जाएगी।

इस संबंध में आप निम्न लिखित पते पर संपर्क कर सकते हैं –

प्रभारी : स्वामी सहजानंद सरस्वती संग्रहालय
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
गांधी हिल्स, वर्धा-442005 (महाराष्ट्र)
मोबा. 07599045113
E-mail : dr4devraj@gmail.com